

ॐ

नमः सिद्धेभ्यः

वह घड़ी कब आयेगी....!

श्रीमद् राजचन्द्र द्वारा रचित 'अपूर्व अवसर' काव्य पर
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के गुजराती प्रवचनों का हिन्दी अनुवाद

हिन्दी रूपान्तरण
स्व० पण्डित वंशीधर जैन
कोलकाता

सम्पादक
पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन
तीर्थधाम मङ्गलायतन, अलीगढ़

प्रकाशन सहयोग
श्री निरविलप्रताप राय गाँधी
हस्ते बाल ब्रह्मचारी हेमन्तभाई गाँधी
मुम्बई

प्रकाशक :
तीर्थधाम मङ्गलायतन

श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट
सासनी-204216, हाथरस (उत्तरप्रदेश) भारत

प्रथम संस्करण : 1000 प्रतियाँ

ISBN No. :

न्योछावर राशि : रुपये 15.00

Available At -

- **TEERTHDHAM MANGALAYATAN,**
Aligarh-Agra Road, Sasni-204216, Hathras (U.P.)
Website : www.mangalayatan.com;
e-mail : info@mangalayatan.com
- **Pandit Todarmal Smarak Bhawan,**
A-4, Bapu Nagar, Jaipur-302015 (Raj.)
- **SHRI HITEN A. SHETH,**
Shree Kundkund-kahan Parmarthik Trust
302, Krishna-Kunj, Plot No. 30,
Navyug CHS Ltd., V.L. Mehta Marg,
Vile Parle (W), Mumbai - 400056
e-mail : vitragna@vsnl.com / shethhiten@rediffmail.com
- **Shri Kundkund Kahan Jain Sahitya Kendra,**
Songarh (Guj.)

टाइप सेटिंग :

मङ्गलायतन ग्राफिक्स, अलीगढ़

मुद्रक :

देशना कम्प्यूटर्स, जयपुर

प्रकाशकीय

श्रीमद् राजचन्द्र द्वारा रचित **अपूर्व-अवसर** काव्य पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के मङ्गल प्रवचनों का अद्भुत सङ्कलन **वह घड़ी कब आयेगी....!** नाम से प्रकाशित कर सद्धर्म प्रेमी साधर्मीजनों को समर्पित करते हुए, हमें अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

प्रस्तुत प्रवचन पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी की उपस्थिति में ही श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय-मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ एवं अन्य संस्थाओं द्वारा हिन्दी एवं गुजराती में प्रकाशित होते रहे हैं। प्रस्तुत प्रवचन सन् 1939 में हुए हैं। सम्भवतः पूज्य गुरुदेवश्री के प्राचीन प्रवचनों का यह पहला ही संस्करण था, जिसे समाज ने काफी सराहा और सम्मान दिया।

इसी प्रवचनग्रन्थ को, साधर्मीजनों की तीव्र माँग को देखते हुए **तीर्थधाम मङ्गलायतन** से प्रकाशित किया जा रहा है। इस ग्रन्थ का नाम **अपूर्व अवसर प्रवचन** के स्थान पर **वह घड़ी कब आयेगी....!** किया गया है। जो कि सबको रुचिकर प्रतीत होगा - ऐसी आशा है।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि इस प्रवचनग्रन्थ के प्रकाशन में हमारे द्वारा पूर्व में प्रकाशित धन्य-मुनिदशा आदि प्रवचनग्रन्थ एवं कथा संग्रह भी प्रेरक रहे हैं। निश्चित ही किसी भी ज्ञानी-धर्मात्मा के जीवन में मुनिदशा से लेकर सिद्धदशा तक की प्राप्ति की कैसी उत्कृष्ट भावना होती है? - वह इस ग्रन्थ में कदम-कदम पर दृष्टिगोचर होता है। साथ

ही एक साधक, साधना की पगडण्डी पर किस तरह आगे बढ़ता है ? यह जानने का सुअवसर प्राप्त भी होता है ।

इस प्रवचनग्रन्थ के प्रकाशन से पूर्व इसका, गुजराती प्रकाशन के दो अलग-अलग संस्करणों से मिलान करके आवश्यक संशोधन किया गया है । साथ ही, प्रत्येक काव्य का भावदर्शक चित्र एवं हिन्दी पद्यानुवाद देकर इस प्रकाशन को अधिक उपयोगी बनाने का प्रयास किया गया है । पूज्य गुरुदेवश्री ने इस प्रवचनग्रन्थ की अमूल्य भेंट देकर समस्त सद्धर्म प्रेमी साधर्मीजनों पर अपूर्व उपकार किया है ।

वर्तमान शताब्दी में दृष्टिगोचर दिगम्बर जिनधर्म की प्रभावना में पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का अविस्मरणीय योगदान रहा है । पूज्यश्री ने स्थानकवासी श्वेताम्बर जैनसम्प्रदाय में जन्म लेकर, स्वयंबुद्ध की तरह न केवल सत्य का अनुसन्धान ही किया, अपितु उसे प्राप्त और प्रचारित भी किया । आज इसमें कोई मतभेद नहीं है कि यदि पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का उदय नहीं हुआ होता तो दिगम्बर जैन समाज में आध्यात्मिक जागृति का नितान्त अभाव ही रहता ।

विक्रम सम्वत् 1978 की वह पावन घड़ी, जिस दिन पूज्य गुरुदेवश्री के करकमलों में शासन स्तम्भ श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव द्वारा विरचित श्रीसमयसार परमागम आया, जिसे प्राप्त कर उन्होंने क्या नहीं पाया और क्या नहीं छोड़ा ? भगवान समयसारस्वरूप शुद्धात्मा को पाया और मिथ्यामताग्रह का विष छोड़ा । तभी से लगातार 45 वर्षों तक पूज्यश्री के द्वारा वीतरागी जिनशासन की जो अविस्मरणीय प्रभावना हुई, वह आज देश-विदेश में अपनी जड़ें जमा चुकी है ।

यद्यपि पूज्य गुरुदेवश्री आज सदेह उपस्थित नहीं हैं, तथापि उनकी वाणी कैसेट्स, सी.डी. एवं डी.वी.डी में अवतीर्ण होकर तथा सत्साहित्य के रूप में प्रकाशित होकर, इस पञ्चम काल के अन्त तक भव्यजीवों को मुक्तिमार्ग का बोध प्रदान करती रहेगी ।

पूज्य गुरुदेवश्री के मङ्गल प्रभावना उदय में सैकड़ों जिन मन्दिरों एवं कई भव्य सङ्कुलों का निर्माण हुआ है, जो उनके द्वारा प्रसारित भगवान महावीर के जीवमात्र को हितकारी आध्यात्मिक सन्देशों के व्यापक प्रचार-प्रसार में संलग्न हैं।

तीर्थधाम मङ्गलायतन भी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रभावना उदयरूपी वटवृक्ष की एक शाखा है। अत्यन्त अल्प काल में इस तीर्थधाम ने न मात्र जैन, अपितु जैनेतर समाज के हृदय में भी अपना अमिट प्रभाव स्थापित किया है। सत्य तो यह है कि **तीर्थधाम मङ्गलायतन** पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी एवं तद्भक्त बहिनश्री चम्पाबेन के तत्त्वज्ञान का प्रभापुञ्ज ही है।

सत्साहित्य का प्रकाशन भी **तीर्थधाम मङ्गलायतन** की कई कल्याणकारी योजनाओं में से एक है। इसी के फलस्वरूप प्रस्तुत ग्रन्थ 'वह घड़ी कब आयेगी....!' प्रस्तुत किया जा रहा है। प्रस्तुत प्रकाशन को नये सम्पादितरूप में प्रस्तुत करने का कार्य **तीर्थधाम मङ्गलायतन** के पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन बिजौलियाँ द्वारा किया गया है। इस ग्रन्थ में समाहित अपूर्व-अवसर काव्य का हिन्दी पद्यानुवाद बाल-ब्रह्मचारी सुमतप्रकाश जैन, खनियाँधाना द्वारा किया गया है, तदर्थ हम आभारी हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशनकर्ता के रूप में **श्री निखिलप्रताप राय गाँधी हस्ते बाल ब्रह्मचारी हेमन्तभाई गाँधी, मुम्बई** के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं।

सभी साधर्मीजन इस प्रवचनग्रन्थ का स्वाध्याय करके निज आत्महित साधें – यही भावना है।

01 फरवरी 2010
तीर्थधाम मङ्गलायतन का
सप्तम वार्षिक महा-महोत्सव

पवन जैन
श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान
दिगम्बर जैन ट्रस्ट

सम्पादकीय

श्रीमद् राजचन्द्र रचित 'अपूर्व अवसर' काव्य पर हुए पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचनों का सम्पादित सङ्कलन 'वह घड़ी कब आयेगी...!' सद्धर्मप्रेमी साधर्मिजनों को समर्पित करते हुए अत्यन्त हर्ष का अनुभव हो रहा है।

सुप्रसिद्ध जैनतत्त्ववेत्ता श्रीमद् राजचन्द्रजी ने विक्रम संवत् 1952 के मगसिर माह में अपनी जन्मभूमि बवाणियाँ में 'अपूर्व अवसर' नामक काव्य की रचना की थी। श्रीमद् राजचन्द्र, वीतरागता के महान उपासक और आत्मज्ञानी सत्पुरुष थे, उन्हें बाल्य-अवस्था में ही जातिस्मरण ज्ञान प्राप्त हुआ था। उनके अन्तःस्थल में गृह-जञ्जाल से निवृत्ति की तीव्रतम भावना थी जो इस काव्य से प्रस्फुटित हुई है।

यह 'अपूर्व अवसर' काव्य जैन समाज के साथ-साथ अन्य धर्मानुयायियों में भी बहुत प्रसिद्ध है। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी भी इस काव्य से अत्यधिक प्रभावित थे और उनके आश्रम की भजनावली में प्रस्तुत काव्य सङ्कलित है।

श्रीमद् राजचन्द्र ने यह भावना स्वयं को निश्चयसम्यग्दर्शन प्राप्त होने के बाद भायी है। इससे यह समझना चाहिए कि धर्म का प्रारम्भ सम्यग्दर्शन होने पर ही होता है, और सम्यग्दर्शनपूर्वक ही सच्चा चारित्र होता है। इस सम्बन्ध में कविवर पण्डित दौलतरामजी ने अपनी अमर कृति छहढाला में कहा है – **मोक्ष महल की प्रथम सीढ़ि या बिन ज्ञान चरित्ता...**। इस काव्य के नौवें पद्य में द्रव्यलिङ्गी और भावलिङ्गी साधु का वर्णन अत्यन्त सुन्दररूप से किया गया है और यह भी बताया गया है कि भीषण उपसर्ग परिषहों के प्रसङ्गों में भी वीतरागी सन्तों की परिणति कैसी अद्भुत होती है ?

इन प्रवचनों में मुनिधर्म का स्वरूप स्पष्टरूप से प्रसिद्ध होता है। इन प्रवचनों में समागत निम्न बिन्दुओं पर समस्त साधर्मी समाज को विशेष ध्यान देना अनिवार्य है -

1. मुनिधर्म सर्वोत्कृष्ट साधकदशा है।
2. मुनि-अवस्था में मात्र देह के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं रहता। देह होने पर भी देह के प्रति ममत्व नहीं है।
3. देह को उपचार से संयम का उपकरण कहा है किन्तु वह इन्द्रिय या विषय-कषाय के पोषण के लिए नहीं होती, अपितु संयम के लिए होती है।
4. पूजा-सत्कार के लिए या देह को सुन्दर दिखाने के लिए या अन्य किसी कारणवश भी मुनि-अवस्था में वस्त्रादि का ग्रहण नहीं होता।
5. जिनकल्पी या स्थविरकल्पी किसी भी जैनमुनि के वस्त्र नहीं होता।
6. मुनिदशा में अंशमात्र भी देह में आसक्ति या ममता नहीं होती।
7. मुनि की साधकदशा में 28 मूलगुण अवश्यमेव निमित्त होते हैं।
8. मुनि के छट्टे गुणस्थान में आहार लेने का विकल्प होता है, वहाँ आहार लेने की वृत्ति अवश्य है किन्तु मूर्च्छा या लोलुपता नहीं है।
9. गृहस्थावास में कषाय का सर्वथा त्याग नहीं हो सकता, इसलिए सच्चा मुनित्व होना चाहिए और वह नग्न वस्त्ररहित के ही होता है।
10. वह अपूर्व अवसर धन्य है, जब देह मात्र संयम के लिए ही हो, नग्न रहे किन्तु वस्त्र नहीं हो, द्रव्य और भाव दोनों से नग्न-निर्ग्रन्थ हो।
11. जैन धर्मानुसार तीनों काल में नग्न दिगम्बर निर्ग्रन्थ दशायुक्त साधक-अवस्थारूप मुनिमार्ग ही केवलज्ञान प्रगट करने का प्रयोग है।

प्रस्तुत संस्करण

यह तो सर्व विदित है कि तीर्थधाम मङ्गलायतन द्वारा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के मुनिदशा के स्वरूप, महिमा आदि विषयक प्रवचनों का प्रकाशन 'धन्य-मुनिदशा' के नाम से किया गया है, तथा मुनि जीवन की प्रेरक कथाओं के रूप में 'धन्य-मुनिराज हमारे हैं' का प्रकाशन चार खण्डों में किया

जा चुका है। प्रस्तुत प्रकाशन भी इसी शृङ्खला की एक कड़ी है।

इस सम्पादित संस्करण के प्रकाशन से पूर्व इसका दो अलग-अलग गुजराती प्रतियों के आधार पर मिलान किया गया है एवं आवश्यक संशोधन किये गये हैं।

प्रस्तुत संस्करण में गुजराती काव्य का हिन्दी पद्यानुवाद एवं प्रसङ्गोचित चित्र भी दिया गया है।

लम्बे-लम्बे गद्यांशों को पठन-पाठन की सुविधा हेतु छोटा किया गया है।

पूर्व प्रकाशित इस ग्रन्थ का नाम 'अपूर्व अवसर महान काव्य पर प्रवचन' था, जिसे परिवर्तित कर **वह घड़ी कब आयेगी....!** किया गया है। हमें आशा है, यह नाम सबको रुचिकर प्रतीत होगा।

प्रस्तुत काव्य की रचना करनेवाले श्रीमद् राजचन्द्र एवं उसमें समाहित रहस्यों का उद्घाटन करनेवाले पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का समस्त धर्मप्रेमी समाज पर अनन्त उपकार है। इस उपकार के लिए दोनों महापुरुषों के श्रीचरणों में विनयाञ्जलि समर्पित करता हूँ।

प्रस्तुत प्रकाशन के मूल प्रेरक अपने विद्यागुरु पण्डित कैलाशचन्द्र जैन, अलीगढ़ के प्रति भी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ, क्योंकि आपके पावन सान्निध्य में रहकर जैनतत्त्वज्ञान एवं पूज्य गुरुदेवश्री के महान व्यक्तित्व का परिचय प्राप्त करने का सौभाग्य मिला है।

सभी साधर्मी इस ग्रन्थ का आद्योपान्त स्वाध्याय कर, अपने जीवन में मुनिदशा की उग्र भावना भायें - इसी आशा के साथ।

01 फरवरी 2010

तीर्थधाम मङ्गलायतन का
सप्तम वार्षिक महा-महोत्सव

देवेन्द्रकुमार जैन

तीर्थधाम मङ्गलायतन



परमात्मने नमः

वह घड़ी कब आयेगी....!

श्रीमद् राजचन्द्र प्रणीत
'अपूर्व-अवसर' काव्य पर
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचन

श्रीमद् राजचन्द्रजी ने अपनी जन्मभूमि, ववाणिया (सौराष्ट्र) में प्रातःकाल अपनी माताश्री की शय्या पर बैठकर इस 'अपूर्व-अवसर' नामक काव्य की रचना की थी।

श्रीमद् राजचन्द्र द्वारा रचित इस अपूर्व-अवसर काव्य में मुख्यरूप से परमपद, अर्थात् मोक्षप्राप्ति की भावना व्यक्त की गयी है। आत्मा, त्रिकाल ज्ञाता-दृष्टास्वरूप, अनन्त गुणों का पिण्ड है। उसका अनुभव करने के लिए सर्वज्ञ-वीतराग की आज्ञानुसार तत्त्वार्थों की निश्चयश्रद्धा होती है, तत्पश्चात् ज्ञानानन्दस्वभाव की ओर प्रवृत्त होने का पुरुषार्थ बढ़ने से क्रमशः शुद्धता की वृद्धि होती है। इस अपेक्षा से जीव की अवस्था में चौदह गुणस्थान होते हैं, उनमें से चौथे गुणस्थान से विकास की श्रेणी प्रारम्भ होती है।

जैसे, महल के ऊपर चढ़ने के लिए सीढ़ियाँ होती हैं; उसी प्रकार मोक्षरूपी महल में जाने के लिए गुणस्थानरूपी चौदह सीढ़ियाँ हैं। उनमें से प्रथम सम्यग्दर्शनरूप चौथे गुणस्थान से मङ्गलमय प्रारम्भ होता है। आत्मस्वरूप की जागृति की वृद्धि के लिये यह भावना है।

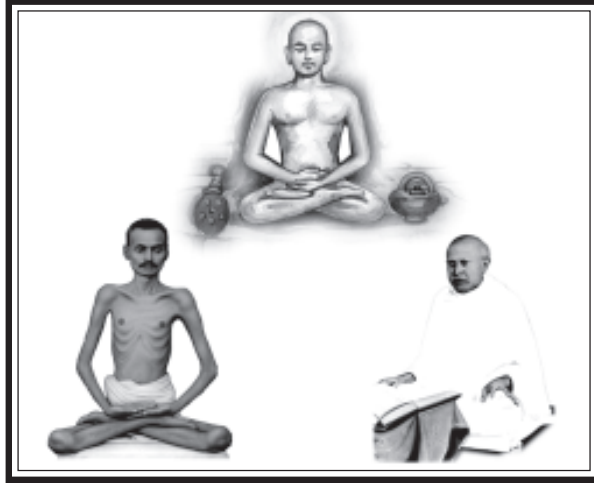
हम तो मुनियों के दासानुदास हैं

अहो! मुनिवर तो आत्मा के परम आनन्द में झूलते-झूलते मोक्ष की साधना कर रहे हैं। आत्मा के अनुभवपूर्वक दिगम्बर चारित्र्यदशा द्वारा मोक्ष की सिद्धि होती है। दिगम्बर साधु अर्थात् साक्षात् मुक्ति का मार्ग। अहो! ये तो छोटे सिद्ध हैं! अन्तर चिदानन्दस्वरूप में झूलते-झूलते बारम्बार शुद्धोपयोग द्वारा निर्विकल्प आनन्द का अनुभव करते हैं। पञ्च परमेष्ठी की पंक्ति में जिनका स्थान है, ऐसे मुनिराज की महिमा की ज़्या बात? ऐसे मुनिराज के दर्शन हों तो भी महान आनन्द की बात है। ऐसे मुनिवरों के तो हम दासानुदास हैं। हम उनके चरणाविन्द को नमन करते हैं। धन्य मुनिदशा! हम भी इस दशा की भावना ज़ाते हैं।

(- गुरुदेवश्री के वचनमृत, 142, पृष्ठ 90)

काव्य - 1

अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ?
क्यारे थईशुं बाह्यांतर निर्गन्थ जो ?
सर्व सम्बन्धनुं बन्धन तीक्षण छेदीने,
विचरशुं कब महत्पुरुष ने पंथ जो ?
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ॥



अपूर्व अवसर ऐसा किस दिन आयेगा,
कब होऊँगा बाह्यान्तर निर्गन्थ जब।
सम्बन्धों का बन्धन तीक्षण छेद कर,
विचरूँगा कब महत्पुरुष के पंथ जब ॥
अपूर्व..... ॥

काव्य - 1 पर प्रवचन

गृहस्थ धर्मात्मा, आत्मा की प्रतीतिसहित, पूर्णता का लक्ष्य रखते हुए तीन प्रकार के मनोरथ / भावना भाता है -

(1) मैं सब सम्बन्धों से छूटूँ;

(2) स्त्री आदि बाह्य परिग्रह तथा कषायरूप अभ्यन्तर परिग्रह का पुरुषार्थ द्वारा त्यागकर निर्ग्रन्थ मुनि होऊँ;

(3) मैं अपूर्व समाधिमरण प्राप्त करूँ।

जबकि संसारी मोही जीव यह मनोरथ / भावना भाता है कि मैं गृहस्थ-कुटुम्ब की वृद्धि करूँ; धन, घर, पुत्र, परिवार की वृद्धि हो और अपना हरा-भरा खेत, अर्थात् भरा-पूरा परिवार छोड़कर मरूँ - ऐसी विपरीतभावना ही संसारी जीव भाता है।

‘अपूर्व-अवसर’ का अर्थ, बाह्य अपूर्व काल नहीं है किन्तु इसका अर्थ आत्मद्रव्य में अपूर्व स्वकाल होता है, जो कि शुद्ध-स्वभाव की परिणति है। प्रत्येक वस्तु स्वचतुष्टययुक्त है, स्वाधीन है। वह स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभावरूप है; नित्य टिककर परिणमित होती है।

पहले अज्ञानभाव में आत्मा, रागादि परभाववाला होकर अपने को पररूप मानता हुआ परिणमन करता था किन्तु जब यथार्थ सत्समागम द्वारा अत्यन्त पुरुषार्थ से शुद्धात्मा की अन्तरङ्ग प्रतीति की, तब स्वभाव में परिणमन हुआ। वह परिणमन ही इस आत्मा की शुद्धअवस्था का काल है, वही ‘स्वकाल’ कहलाता है। यद्यपि आत्मज्ञान द्वारा स्वभाव का भान रहता है किन्तु जब तक पूर्ण

शुद्धपर्यायदशा प्रगट नहीं होती, तब तक उसे पूर्ण करने के लिए स्वरूप के भानसहित यह भावना है।

‘अपूर्व’ शब्द में अनेक अर्थ गर्भित हैं; इसलिए इस ‘अपूर्व’ माङ्गलिक शब्द से भावना का प्रारम्भ किया गया है। पहले अनुत्पन्न अपूर्व स्वभावकाल कैसे आयेगा? – इस मनोरथ को साधक साधता है। मनोरथ होने में मन तो निमित्त है किन्तु ज्ञान द्वारा उसको अस्वीकार करके साधकजीव, स्वरूप चिन्तन की जागृति का उद्योत करता है। उसे स्वरूप की भावना, अर्थात् मनोरथ का प्रवाह चलता है, उसके साथ स्वभावपरिणति का प्रवाह भी चलता है। उस भावना में मन का निमित्त है तथा राग का अंश है, उससे विचार का क्रम होता है और तब लोकोत्तर पुण्य का बन्ध सहज ही हो जाता है किन्तु प्रारम्भ से ही उसकी अस्वीकारता है। उसे भेदों और विकल्पों का आदर नहीं है किन्तु अतीन्द्रिय भावमनोरथ स्वरूप का चिन्तवन है। तत्त्वस्वरूप की भावना विचारते हुए अपने मन का निमित्त आता है।

पूर्ण शुद्धात्मस्वरूप सिद्ध परमात्मा जैसा है – ऐसा अपना स्वरूप लक्ष्य में रखकर पूर्णता के लक्ष्य से श्रीमद्, आत्मस्वरूप की भावना करते हैं। ऐसी यथार्थ निर्ग्रन्थदशा, स्वरूपस्थिति का अपूर्व अवसर कब होगा? – ऐसी अपने स्वभाव की भावना है।

मैं कब अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग निर्ग्रन्थ होऊँगा, अर्थात् अभ्यन्तर राग-द्वेष की ग्रन्थि से और बाह्य में स्त्री, धन और कुटुम्ब आदि से निवृत्त होऊँ – यह भावना भाता है।

अहो! वह वीतरागदशा धन्य है! वह निर्ग्रन्थ मुनिपद धन्य

है !! वह पूर्ण दिगम्बर सर्वोत्कृष्ट साधकदशा धन्य है !!!

सर्व सम्बन्धों का बन्धन तीक्ष्ण छेदकर - शारीरिक, मानसिक तथा द्रव्यकर्म का सम्बन्ध / मोह छोड़कर मुनिदशा प्रगट करूँ। आत्मा, अबन्धस्वरूप है, उसके ज्ञान की स्थिरता को सूक्ष्म रीति से जानकर, मैं भेदज्ञान द्वारा कर्मोदय की सूक्ष्म सन्धि को नष्ट करूँ - ऐसी यह भावना है। आत्मस्वरूप के भान द्वारा रागरहित ज्ञान में स्थिरता होते ही अनादि सन्तानरूप संसारवृक्ष की मूल राग-द्वेष की गाँठ छिन्न-भिन्न होकर नष्ट हो जाती है।

महान् पुरुषों के मार्ग में कब विचरूँगा - संसार में स्वच्छन्दी लड़का इच्छा करता है कि कब मेरा पिता मरे और मैं सब अधिकार तथा कारोबार कब्जे में करूँ। उससे विपरीत इस लोकोत्तरमार्ग का साधकजीव यह भावना भाता है कि अतीन्द्रिय ज्ञान-दर्शन-चारित्रस्वरूप मोक्षमार्ग में प्रवर्तन के लिए तीर्थङ्कर भगवान कब मिलें और कोई महान् बुद्धिमान निर्ग्रन्थ जिस पन्थ में, आत्मस्वरूप में विचरते हैं, उस पन्थ में मैं वीतराग कुल की टेक, अर्थात् मर्यादानुसार कब विचरूँगा ? यह सनातन शाश्वत् आत्मधर्म का सद्भूतव्यवहार है।

अनन्त ज्ञानी पुरुषों ने जिस पन्थ में विचरण कर मोक्षपद को प्राप्त किया, उसी पन्थ में मैं कब विचरूँगा ? - इस भावना में अनन्त ज्ञानी भगवन्तों के प्रति विनय व्यक्त किया गया है। साधक को अपनी पतितअवस्था का भी ज्ञान है क्योंकि उसे असीमित सामर्थ्यवाले ज्ञान की पहिचान हुई है किन्तु अभी प्रगट नहीं हुआ है - ऐसा वह जानता है। यह पुराणपुरुष (सत्पुरुष) की आराधना

है। इसमें कितनी निर्मलता है ! अपने आत्मधर्म का विकास हुआ है; इसलिए साधक, अनन्त ज्ञान का बहुमान करता है, वह परमार्थ का आदर है।

श्रीमद् राजचन्द्र, सम्यग्दर्शन को नमस्कार करते हुए कहते हैं :-

‘हे कुन्दकुन्दादि आचार्यों ! आपके वचन, स्वरूप की खोज में इस पामर को परम उपकारक हुए हैं; इसलिए मैं आपको अतिशय भक्ति से नमस्कार करता हूँ।’

हे वीतराग जिन ! आपको अत्यन्त भक्ति से नमस्कार करता हूँ। इस पामर के प्रति आपने अनन्त-अनन्त उपकार किये हैं। इस प्रकार गुणों का बहुमान, सत्कार, विनय किया है; उसमें परमार्थ से अपने गुणों का आदर है। श्रीमद् ने एक डेढ़ पंक्ति के चरण में लिखा है कि कुन्दकुन्दाचार्य, आत्मस्वरूप में बहुत दृढ़ता से स्थित थे।

विचरूँगा कब महत्पुरुष ने पंथ जब - यहाँ प्रथम अरहन्त प्रभु सर्वज्ञदेव हैं; वे प्रथम महापुरुष हैं तथा दूसरे महापुरुष आचार्य, साधुवर्य, मुनिवर हैं। संसार की जाति-पाँति छोड़कर सन्तों-मुनिवरों की चैतन्यजाति / साधक अवस्था में (आत्मस्थ स्थिति में) रहना ही है; इसलिए साधक धर्मात्मा यही भावना भाता है कि इन महामुनियों के मार्ग में कब विचरूँगा, अनागारमार्ग को कब अपनाऊँगा ?

इस प्रकार इस पहले काव्य में कहा है कि ऐसा अपूर्व अवसर कब आयेगा ? ●●

काव्य - 2

सर्व भावथी औदासिन्यवृत्ति करी,
मात्र देह ते संयम हेतु होय जो;
अन्य कारणे अन्य कशुं कल्पे नहीं,
देहे पण किंचित् मूर्छा नव जोय जो ॥
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवेश ॥



उदासीन वृत्ती हो सब परभाव से,
यह तन केवल संयम हेतु होय जब।
किसी हेतु से अन्य वस्तु चाहूँ नहीं,
तन में किञ्चित भी मूर्छा नहीं होय जब।
अपूर्व..... ॥

काव्य - 2 पर प्रवचन

पहले काव्य में अपूर्व अवसर की, बाह्याभ्यन्तर निर्ग्रन्थपने की ओर सब सम्बन्धों के बन्धन को तोड़ने की भावना भायी। अब, आगे बढ़ते हैं।

उदासीनवृत्ति हो सब परभाव से... अर्थात् सर्व भाव का साक्षी; सर्वत्र अकर्तापन; क्रमबद्धपर्याय का ज्ञाता, पर से उदासीन है। जगत् के सब परभावों से भिन्न होकर स्वसन्मुख होने में प्रयत्नशील रहते हुए ऊँचे भाव में आसीन होना-बैठना, यह सत्यार्थरूप से संसार से अनासक्तदशा है।

सुख की सहेली है अकेली उदासीनता।

अध्यात्म की जननी है यही उदासीनता ॥

यह कथन अठारह वर्षीय श्रीमद् द्वारा किया गया है। उदासीनता, अर्थात् मध्यस्थता, समभावदशा; वह अध्यात्म की जननी है क्योंकि उससे शुद्ध आत्मस्वरूप प्रगट होता है। तीर्थङ्कर का पुण्य, इन्द्र-चक्रवर्ती के पुण्य की ऋद्धि, स्वर्ग का सुख – ये सब सांसारिक उपाधिभाव हैं; इसलिए ज्ञानी की सब परभावों से उदासीनवृत्ति है।

जो कुछ पुण्य और पाप (शुभ-अशुभ) वृत्ति, ज्ञान में दिखायी पड़ती है, वह सब मोह की विकारी अवस्था है। उन सब परभावों से ज्ञानी की उपेक्षावृत्ति है। वह दूसरे से राग-द्वेष, सुख-दुःख नहीं मानता। अपनी निर्बलता से राग होता है किन्तु वह उसका स्वामी नहीं होता। ज्ञानी के ज्ञान में संसारभाव (शुभ-अशुभभाव) का आदर नहीं है।

कोई प्रश्न करे कि मुनि होने पर सब कुछ छूट जाता है क्या ? क्या संसारी वेष में मुनिभाव नहीं आता या वस्त्रसहित मुनि नहीं हो सकता क्या ? क्या त्यागी होने पर ही मुनित्व प्रगट हो सकता है ? इन सब शङ्काओं का समाधान इसमें किया गया है ।

ध्रुवस्वभाव के आलम्बन के बल से अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान - इन तीन जाति के चतुर्कषायों का त्याग होते ही राग के सब निमित्त सहज ही छूट जाते हैं; इसलिए मुनि के केवल देह रहती है । यह सम्यग्ज्ञानसहित नग्न दिग्म्बर निर्ग्रन्थ मुनिदशा की भावना है । जितना राग छूटे, उतना राग का निमित्त भी छूट जाता है - यह नियम है । मुनिपना, अर्थात् सर्वोत्कृष्ट साधकदशा । जब सातवाँ और छठवाँ गुणस्थान बारम्बार बदलता रहता है, वहाँ महान् पवित्र वीतरागदशा और शान्तमुद्रा होती है । अहो ! आत्मा में अनन्त ज्ञान, वीर्य की शक्ति है ।

आठ वर्ष के बालक को केवलज्ञान हो जावे और करोड़ वर्ष पूर्व की आयु रहे, तब तक शरीर नग्न रहे और महापुण्यवन्त परम औदारिकशरीर बना रह सकता है - ऐसा प्राकृतिक त्रैकालिक नियम है । मुनि अवस्था में मात्र देह के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं रहता । देह होने पर भी देह के प्रति ममत्व नहीं है । केवली भगवान को देह सम्बन्धी रोग, आहार-निहार, उपसर्ग, क्षुधा-तृषादि अठारह दोष कभी भी नहीं होते ।

यह तन केवल संयम हेतु होय जब - ज्ञानियों को संयम के हेतु से, देह को उसकी स्थिति पर्यन्त टिकना है । मुनि को छद्मस्थदशा में राग है, तब तक शरीर के निर्वाह के लिए नग्न शरीर साधक है

किन्तु फिर भी शरीर की कुशलता के लिए साधु को ममत्व नहीं होता - यह बात यथास्थान की गयी है; इसलिए मुनित्व की भावना और मुनि का स्वरूप कैसा हो? - यह जानना प्रयोजनभूत है।

देह को उपचार से संयम का उपकरण कहा है। मुनि को एषणासमितिपूर्वक निर्दोष आहार की वृत्ति होती है किन्तु वह इन्द्रिय या विषय-कषाय के पोषण के लिए नहीं होती, अपितु संयम के लिए होती है। संयम में इन्द्रिय-मन (अतीन्द्रिय शान्ति में ठहरनेवालों को) निमित्तरूप होता है। इसका मूलकारण आत्मस्वभाव की आलम्बनरूप स्थिरता है। सहज स्वाभाविक आत्मज्ञान में ठहरना ही आत्मस्वभाव की स्थिरता है।

किसी हेतु से अन्य वस्तु चाहूँ नहीं, - अर्थात् अन्य किसी अपवाद से भी बाह्य वस्त्रादि निमित्त, साधु अवस्था में स्वीकार्य नहीं है, यह इसमें बताया है। इसलिए स्वाभाविक (प्राकृतिक) सिद्धान्त से निश्चित हुआ कि जिसकी आत्मा, स्वयं सहजरूप में वर्तती है - ऐसे साधक के बहिरङ्ग निमित्तमात्र देह होती है किन्तु मुनि के उसका आश्रय नहीं है।

पूजा-सत्कार के लिए या देह को सुन्दर दिखाने के लिए या अन्य किसी कारणवश भी मुनि अवस्था में वस्त्रादि का ग्रहण नहीं है। जब तक पूर्ण वीतराग स्थिति प्रगट नहीं होती, तब तक अल्प राग होता है; इसलिए निर्दोष आहार लेने की वृत्ति होती है किन्तु उस वृत्ति का स्वामित्व उनके नहीं है। जिनकल्पी या स्थविरकल्पी किसी भी जैन मुनि के वस्त्र नहीं होता।

तन में किञ्चित् भी मूर्छा नहीं होय जब - ऐसी मुनिदशा

में अंशमात्र भी देह में आसक्ति या ममता नहीं होती। कोई कहे कि केवलज्ञान होने के बाद आहार होवे तो ? - यह बात झूठी है। सातवें गुणस्थान में ध्यान-समाधिदशा है, उसमें आहार की वृत्ति नहीं होती तो उससे ऊँची भूमिका में (सातवें गुणस्थान से आगे के गुणस्थानों में) आहार की वृत्ति कैसे हो ?, अर्थात् नहीं ही होती। जिनशासन में / मोक्षमार्ग में मुनि की कैसी दशा हो ? - यह यहाँ बताया है।

चारित्रभावना (मनोरथ) द्वारा पुरुषार्थ की प्रगटता होने से गृहस्थपना छोड़कर मुनिपना ग्रहण करने का विकल्प आता है। 16 वें-17 वें-18 वें तीर्थङ्कर भगवान, चक्रवर्ती पदवीधारक थे। वे भी गृहस्थदशा में भगवती जिनदीक्षा की भावना भाते थे और उस भावना के परिणामस्वरूप संसार छोड़कर मुनित्व अङ्गीकार कर, जङ्गल में नग्न दिगम्बर होकर चल पड़े। जिनकी सोलह हजार देव सेवा करते थे और जिनके बत्तीस हजार मुकुटधारी राजा चँवर करते थे - ऐसे छह खण्ड के अधिपति भी मुनि होकर जङ्गल में चले गये। उनके देह की ममता तो पहले से ही नहीं थी किन्तु कमजोरी से जितना चारित्रमोह का राग रहता है, वे उसके विकल्प को भी तोड़कर दिगम्बर अवस्था में सातवें गुणस्थान (साधक-भूमिका) में प्रवेश करते हैं और उस समय उनके चतुर्थ मनःपर्ययज्ञान प्रगट होता है। वे स्वरूप के साधन से अपने ही अपरिमित आनन्दस्वभाव को देखते हैं; इसलिए धर्मात्मा की देह पर दृष्टि (ममत्वभाव) सहज ही दूर हो जाती है। वे देह में प्रतिकूलता होने पर भी दुःख का अनुभव ही नहीं करते।

‘यथाजात’, अर्थात् जन्म समय जैसा शरीर होता है, वैसे ही शरीर की स्थिति मुनि की साधकदशा में होती है। उस साधकदशा में अठाईस मूलगुण सहज निमित्त होते हैं। वह मुनित्व (निर्ग्रन्थ साधकदशा) हो, तब उनकी मुद्रा गम्भीर, निर्विकारी, वीतराग, शान्त, वैराग्यवन्त और निर्दोष होती है। ऐसे गुणों के भण्डार मुनि का शरीर निर्विकारी नग्न बालक की तरह होता है। मुनि आत्मसमाधिस्थ परम पवित्र ज्ञान में रमण करते हैं।

मुनिराज को छठवें गुणस्थान में आहार लेने का विकल्प होता है। वहाँ आहार लेने की वृत्ति अवश्य है किन्तु मूर्च्छा (मोह) या लोलुपता नहीं है। मुनि, शरीर के राग के लिए नहीं, किन्तु संयम के निर्वाह के लिए एक ही समय आहार-जल हाथ में लेते हैं। आहार करते समय मुनि को आहार का लक्ष्य नहीं, किन्तु पूर्ण कैसे होऊँ ? - यही लक्ष्य है। उनकी निरन्तर जागृतदशा है।

पूर्णता की स्थिति कब आवेगी ? - इस भावना में ही शुद्धता का अंश निहित है। जिन-आज्ञा और वीतरागदशा का यथार्थ विचार ही यह भावना है, वह शुद्धभावना का कारण है। यदि कारण में कार्य का अंश न हो तो उसे वीतरागदशा का ‘साधककारण’ संज्ञा नहीं मिल सकती। ऐसी उत्कृष्ट साधकदशा कब हो, ऐसा अपूर्व अवसर कब आवेगा ? यही उच्च भावना यहाँ की गयी है।

स्वकाल का अर्थ ‘स्वसमय’ है। श्री अमृतचन्द्राचार्य ने समयसारग्रन्थ के पहले कलश में ‘समय’ का अर्थ ‘आत्मा’ बताया है और उसमें ‘सार’ जो द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्मरहित शुद्धात्मा है, उसे नमस्कार किया है। यहाँ यह भावना की गयी है कि पूर्ण शुद्धअवस्था शीघ्र प्रगट हो।

श्रीमद् राजचन्द्र, सम्यग्दृष्टि और आत्मानुभवी थे; इसलिए मुनित्व की भावना भाते हैं। जैसे, पूर्ण असङ्ग निरावरण आत्मस्वरूप का लक्ष्य किया है, वैसे ही पूर्णता के लक्ष्य से 'परमपद प्राप्ति' का उपाय क्या ? - यह वे विचार करते हैं। यहाँ पूर्ण 'समयसार' साधने की भावना व्यक्त की गयी है। ●●

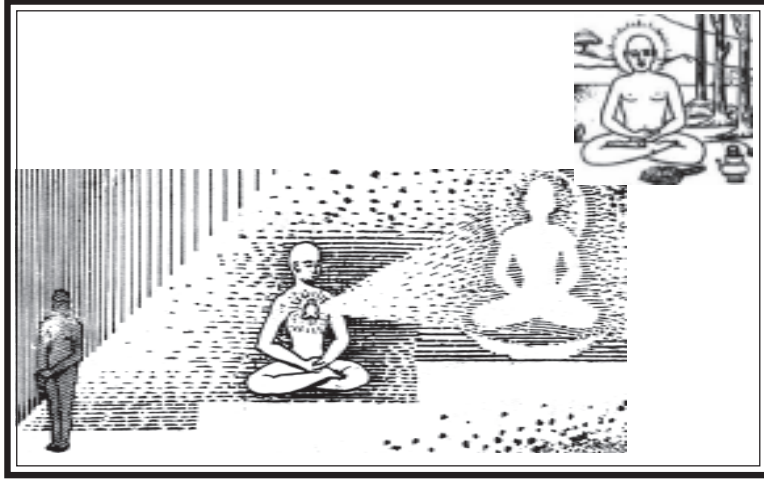
अहा! ऐसी दशा हमें कब प्रगट हो ?

स्वभाव में से विशेष आनन्द प्रगट करने के लिए मुनिराज जङ्गल में बसते हैं। जिन्होंने शुभाशुभ विभाव और पर्याय की रुचि छोड़कर अभेद ज्ञायक की रुचि प्रगट की है, उन्हें ज्ञायक में विद्यमान सर्वशक्तियों का निर्मल अंश एक साथ व्यक्त हो गया है। उसमें दर्शन, ज्ञान, चारित्र, वीर्य इत्यादि अंशों के साथ अतीन्द्रिय आनन्द का अंश भी व्यक्त हुआ है। सज्यग्दर्शन होने पर आनन्द सागर ध्रुव चैतन्य के आश्रय से जो आनन्द अंश प्रगट हुआ है, उसमें अतिशय वृद्धि करने के लिए मुनिराज, घोर जङ्गल में बस अकेले आनन्दमूर्ति ज्ञायक में ही बस रहे हैं। स्वभाव में से विशेष-विशेष स्वरूपानन्द प्रगट करने के लिए मुनिराज, जहाँ सिंह गरजते हैं, नाग फुफकारते हैं - ऐसे एकांत निर्जन जङ्गल में जा बसे हैं। अहा! ऐसी दशा हमें कब प्रगट हो, सज्यग्दृष्टि को यह भावना होती है।

(- वचनमृत प्रवचन, गुजराती, 4/114)

काव्य - 3

दर्शनमोह व्यतीत थई उपज्यो बोध जे ।
देह भिन्न केवल चैतन्यनुं ज्ञान जो ;
तेथी प्रक्षीण चारित्रमोह विलोकिए,
वर्ते एवुं शुद्ध स्वरूपनुं ध्यान जो ।
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ॥



दर्श मोह क्षय से उपजा है बोध जो ।
तन से भिन्न मात्र चेतन का ज्ञान जब ॥
चरित्र-मोह का क्षय जिससे हो जायेगा ।
वर्ते ऐसा निज स्वरूप का ध्यान जब ॥
अपूर्व..... ॥

काव्य - 3 पर प्रवचन

आत्मा के अभिप्राय में भ्रान्ति, अर्थात् पुण्य-पाप-रागादि शुभाशुभपरिणाम को अपना मानना, उन्हें आदरणीय मानना, दर्शनमोह है। आत्मा अपने को भूलरूप मानता है; इसलिए पर का कर्ता - भोक्ता-स्वामी हूँ - यह कल्पना करता है। निश्चय से आत्मतत्त्व सदा अतीन्द्रिय ज्ञानमय पूर्ण असङ्ग है, उसका अबन्धस्वभाव है, वह पर के बन्धनरहित है। वस्तुस्वभाव ऐसा होते हुए भी ऐसा न मानकर, मुझमें जड़कर्म के निमित्त का बन्धन है; मैं पुण्यादि युक्त हूँ; राग हितकर है; शुभपरिणाम मेरा कर्तव्य है; इस प्रकार परभाव में एकत्वबुद्धि होना, वह दर्शनमोह है। एक आत्मतत्त्व को अन्य तत्त्व के साथ एकरूपवाला, उपाधिवाला, बन्धनवाला मानना, दर्शनमोह है।

आत्मा स्वाधीन ज्ञायक वस्तु है। वह कभी भी स्वभाव से भूलरूप नहीं होता। मोहकर्म की एक जड़प्रकृति का नाम दर्शनमोह है, वह तो निमित्तमात्र है। जीव, अज्ञान अवस्था में रहे, तब तक अपने को अन्यथा मानता है, पर से अपना भला होना मानता है किन्तु वह कभी किसी प्रकार से पर का कर्ता-भोक्ता नहीं हो सकता।

यह भूल दूर हो सकती है क्योंकि भूल उसका मूलस्वभाव नहीं है किन्तु पर्याय है। भूल होने में उपाधिरूप निमित्तकारण अन्य होना चाहिए; इसलिए विकारी अवस्था में पर निमित्त होता है। निमित्त तो परवस्तु है - ऐसी यथार्थता से परवस्तु की अवस्था का भेदज्ञान नहीं होने के कारण, वह पर से अपने को अच्छा-बुरा मानता है; अपने को पररूप और पर को अपनेरूप मानता है। स्वयं

रागी, द्वेषी, मोही बनता है, उनका निमित्त पाकर नये रजकण बँधते हैं किन्तु जिस समय जीव, ज्ञानभाव द्वारा अज्ञान अवस्था का अभाव करता है, उस समय दर्शनमोह नष्ट हुआ और ज्ञान प्राप्त हुआ - ऐसा कहा जाता है। पर को स्व-रूप मानने में यह दर्शनमोहकर्म निमित्तरूप है, उसका नाश किया है - ऐसा यहाँ कहना है।

शक्तिरूप में जीव का स्वभाव शुद्ध है, पर्याय में अभी तो शुद्धता का अंश प्रगट हुआ है, उसे पूर्ण करने की भावना है। जैसा सर्वज्ञ भगवान ने जाना है, वैसा ही आत्मा है - ऐसा यथार्थ ज्ञान उत्पन्न हुआ है। ज्ञान उत्पन्न होगा, ऐसी दीर्घकालीन आशा नहीं है। आत्मज्ञान प्रगट हुआ है, वह क्या है- यह बतलाते हैं।

तन से भिन्न चैतन का ज्ञान जब - आठ कर्मों के रजकण, अर्थात् द्रव्यकर्म, नोकर्म और भावकर्म से भिन्न, केवल आत्मा शुद्ध है। जैसे, नारियल में गिरी का गोला भिन्न जाना जाता है; वैसे ही स्पष्ट, प्रत्यक्ष ज्ञान में चिद्घन आत्मा निःसन्देहरूप से भिन्न जाना जाता है। आत्मा, पर से सर्वथा भिन्न निराला है - ऐसे केवल शुद्ध आत्मा के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान, साधक अवस्था में वर्तता है। ऐसा भान है, वह सम्यग्दर्शन है; वह चौथी भूमिका (चौथा गुणस्थान) है। वहाँ आंशिक जिनदशा प्रगट है, उसे जैनदर्शन की इकाई कहा है।

जिसे सम्यक् अभिप्राय का भान हुआ, उसके साथ असङ्गता का पुरुषार्थ भी होगा ही। कभी हीनाधिकरूप से हो, किन्तु उसकी अब स्वसन्मुख ही परिणति होती है। केवल चैतन्य का भान है,

उसमें परमाणुमात्र का भी सम्बन्ध नहीं है; परनिमित्त की तरफ की रुचि से होनेवाला विकार नहीं है। उसके अभिप्राय में ऐसी निःशङ्क श्रद्धा है कि पूर्ण मुक्तपरमात्मासमान अकेला आत्मा भिन्न है; बन्ध या उपाधि, आत्मा का स्वभाव नहीं है - ऐसा होते हुए भी, आत्मा को दयावान, पुण्यवान, पर का कर्ता, भोक्ता तथा शुभाशुभ बन्धयुक्त मानना, मिथ्यादर्शन नामक शल्य है। कोई परमार्थ तत्त्व से रहित होकर स्वच्छन्द आचरण करे, उसकी यहाँ चर्चा नहीं है। ज्ञानी को प्रत्यक्ष अनुभवरूप सम्यग्ज्ञान प्रमाण है; इसलिए सहज एकरूप अवस्था (पर से भिन्न) आत्मस्वरूप में अभेद है - ऐसा लक्ष्य उसे निरन्तर रहता है।

आत्मा का एक भी गुण, परमाणु में मिल नहीं गया है तथा चेतनगुण में निमित्त का प्रवेश नहीं है - ऐसा अनुभवदशा के ज्ञान द्वारा पुरुषार्थ की जागृतियुक्त ज्ञानी कहते हैं। स्वरूप की पूर्ण स्थिरता हो जाए तो ऐसी उत्कृष्ट साधक स्वभाव की भावना भाने की आवश्यकता नहीं रहे, किन्तु चारित्रगुण अपूर्ण है; इसलिए चारित्रमोह कर्म के उदय में थोड़ा जुड़ना होता है, लेकिन वह विघ्न है - ऐसा जानता है। जितने अंशों में कर्म की तरफ अपने को प्रवृत्त करे, उतने अंशों में विघ्नरूप बाधकभाव है।

चारित्रमोह का क्षय जिससे हो जाएगा - इस पंक्ति में श्रीमद् ने कहा है कि चारित्रमोह विशेषरूप से क्षीण होता जाता है, उसे देखिए। सम्यक् बोध द्वारा शुद्धस्वरूप का ज्ञान होने से साधक स्वभाव प्रगटता है, किन्तु उसमें अस्थिरता कितनी दूर हुई और कितनी है? यह निश्चित करके, स्थिरता द्वारा चारित्रमोह को क्षय

करने के लिए पुरुषार्थ बढ़ाता है और ज्ञान की स्थिरता बढ़ने से चारित्रमोह विशेषरूप से क्षीण होता जाता है – ऐसी दृढ़ता स्वानुभव में होती है, इसी का नाम 'विलोकना' है।

आत्मा का भान होने के पश्चात् चारित्रमोह 'प्रक्षीण', अर्थात् विशेष रीति से क्षय होता है। यहाँ उपशम का प्रकरण नहीं है। जो अप्रतिहत, धाराप्रवाही ज्ञानबल की जागृति से आगे बढ़े, उसके उपशम नहीं, किन्तु क्षय करने का बल रहता है। अग्नि को राख से ढँके, उस प्रकार के उपशम की यहाँ चर्चा नहीं है किन्तु पानी से उसे बुझा दे – ऐसे चारित्रमोह के क्षय की भावना यहाँ की गयी है।

आत्मा, ज्ञानमूर्ति पवित्र शुद्ध है, उसके भान में रहकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग की प्रगट अवस्था में स्थिरता बढ़ाऊँ; राग-द्वेष का नाश होता हुआ देखूँ, ऐसा, और मेरे स्वरूप का विकास होने से विशेष निर्मल अवस्था देखूँ – ऐसा इस पंक्ति में कहा है। राग, द्वेष, हर्ष, शोक, रति, अरति इत्यादि चारित्रमोह की अवस्था यहाँ घटती जाती है।

वर्ते ऐसा निज स्वरूप का ध्यान जब – इसका अर्थ यह है कि परमाणुमात्र से मेरा सम्बन्ध नहीं है; इसलिए राग, द्वेष, पुण्यादि अस्थिरता का भी सम्बन्ध ज्ञान में नहीं है – ऐसा मैं शुद्ध ज्ञानघन हूँ। निर्धूम अग्नि का अङ्गारा केवल अग्निमय ही प्रज्वलित रहता है – ऐसी चैतन्यज्योति है। उसे पहिचानकर, देखकर ज्ञानदशा में स्थिर / एकाग्ररूप से (ज्ञान में ही) ज्ञाता बना रहे तो क्रमशः सब कर्म क्षय हो जाए और द्रव्यस्वभाव में पूर्ण, शुद्ध, पवित्र, निर्मलरूप

जैसा आत्मा है, वैसा ही अवस्था / पर्याय में निर्मल शुद्ध हो जाए; केवलज्ञान में पर्याय उत्कृष्ट शुद्धतारूप परिणमती है – ऐसा परमात्मस्वभाव प्रगट हो जाए। ऐसा अपूर्व अवसर कब आयेगा, अर्थात् स्वसमय स्थिति कब आयेगी ? – यही भावना यहाँ की गयी है। ●●

केवलज्ञान के निकट खड़े हैं मुनिराज

भाई! सुन तो सही, मुनि के तो हम दासानुदास हैं, परन्तु उनमें सच्चा मुनिपना होना चाहिए। अहा! मुनिदशा अर्थात् ज्ञ्या? भाई! मुनि तो परमेश्वरपद की केवलज्ञान भूमिका के निकट आ गये हैं। जिसे अतीन्द्रिय आनन्द के प्रचुर स्वसंवेदनस्वरूप धारावाही परिणमन प्रगट हुआ हो, उसे मुनि कहते हैं। अहा! धन्य अवतार! धन्य जीवन! ऐसे मुनि को कौन नहीं मानेगा? यहाँ कहते हैं कि ऐसे अगाध शक्तिवान चैतन्यचक्रवर्ती को ग्रहण कर, उसका अन्तर में उग्र आश्रय कर तो सच्चा मुनिपना प्रगट होगा।

(- गुरुदेवश्री के वचनमृत, पृष्ठ 311)

काव्य - 4

आत्मस्थिरता त्रण संक्षिप्त योगनी,
मुख्यपणे तो वर्ते देह पर्यन्त जो;
घोर परिषह के उपसर्ग भये करी,
आवी शके नहीं ते स्थिरतानो अन्त जो।
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ॥



आत्मलीनता मन-वचन-काया योग की,
मुख्यरूप से रही देह पर्यन्त जब।
भयकारी उपसर्ग परिषह हो महा,
किन्तु न होवे स्थिरता का अन्त जब ॥
अपूर्व..... ॥

काव्य - 4 पर प्रवचन

इस पद में श्रीमद्जी ने ज्ञानसहित पुरुषार्थ की धारा व्यक्त की है और ये 21 पद अविराम एक साथ लिखे गये हैं। इस ज्ञानस्वरूप की एकाग्रता और उस समय की विरलदशा कैसी होगी? अपूर्व साधना का संस्कार कैसा होगा? इस प्रकार की परम आश्चर्यकारी सद्विचार श्रेणी हो, तब कैसा परमार्थरूप काम हो सकता है? - ऐसे गम्भीर ज्ञान का विचार करो। क्या ऐसी अपूर्व बात किसी अन्य के पास से आ सकती है? अरे! जिनकी बुद्धि मताग्रह से मोहित है, उनको सत्य की प्राप्ति नहीं होती।

लोग मध्यस्थभाव से तो विचार नहीं करते और केवल निन्दा करते हैं कि श्रीमद् ने अपने आपको पुजाने के लिए यह काव्य लिखा है किन्तु ऐसा कहनेवाले अपनी आत्मा में भयङ्कर अशातना करते हैं। भाई! उनका गृहस्थवेष देखकर विकल्प में नहीं पड़ना चाहिए।

- ऐसी अपूर्वभावना की वाणी का अपूर्वयोग कोई लावे तो? तोता रटन्त से यह सम्भव नहीं है। जिनके सहजपुरुषार्थ की धारा प्रगट हो, उसको कोई नहीं कहता कि तुम इस समय अपूर्व अवसर की भावना का अन्तर्गत काव्य लिखो, किन्तु जिसके जिनदीक्षा (भगवती दीक्षा) का बहुमान हुआ, वहाँ आत्मा अन्तरङ्ग से ध्वनि करती हुई स्थिरतारूप पुरुषार्थ की माँग करती है। वह निवृत्ति, वैराग्यप्रवृत्ति धारण करने का पुरुषार्थ होता है कि सर्वसङ्गविमुक्त जैसा हूँ, वैसा बनूँ। श्रीमद् ने इस प्रकार मुनित्व की भावना की है।

वे घर में हैं या वन में? – यह प्रश्न ही नहीं है। पूर्ण स्थिरता की दृष्टि पुकारती है कि अब मैं कैसे पूर्ण होऊँ? वर्तमान काल में केवली भगवान का इस क्षेत्र में अभाव है, वह विरह दूर होकर पूर्ण स्वरूप की प्राप्ति का अपूर्व अवसर कैसे आवे – यह भावना की है।

कोई कहे कि श्रीमद् व्यापार करते थे, धनसंग्रह करते थे किन्तु हे भाई! बाह्यदृष्टि द्वारा इन पवित्र धर्मात्मा के हृदय को परखना कठिन है क्योंकि वे गृहस्थवेष में थे; इसलिए साधारण जीवों को उनके अन्तर की उज्ज्वलता देखना बहुत कठिन पड़ता है। समाज में स्वच्छन्दता आदि का जोर था, उसमें सत्य बात किसे कहने जाए? उनके अन्तर में सर्वज्ञ ज्ञानी का मोक्षमार्ग था किन्तु वे तत्कालीन समाज को देखकर अधिक प्रगट में नहीं आये। लोगों का पुण्य ही ऐसा नहीं था, इसमें दूसरा क्या हो सकता है? काल की बलिहारी है! उस समय लोग इस प्रकार की बात सुनने को तैयार नहीं थे। उस काल की अपेक्षा यह काल अच्छा है क्योंकि हजारों भाई और बहनें प्रेम से इस वार्ता को सुनते हैं। परीक्षापूर्वक अपनी पात्रता से सत्य समझते हैं – ऐसे बहुत से व्यक्ति तैयार हुए हैं।

वर्तमान में महाविदेहक्षेत्र में साक्षात् सर्वज्ञ प्रभु तीर्थङ्कर भगवान विराजमान हैं, वहाँ सनातन दिगम्बर वीतराग शासन विद्यमान है। हजारों-लाखों सन्त-मुनियों के संघ हैं। वह क्षेत्र, काल, और वहाँ उत्पन्न होनेवाले धन्य हैं! यह विरह किसको कहें? श्रीमद् ने ऐसे महत्पुरुष सर्वज्ञ भगवान के विरह को जानकर ऐसी भावना की

थी। कहा भी है कि -

‘भरतक्षेत्र मानवपना रे पाया दुःषमकाल,
जिन पूर्वधर विरह से रे दुर्लभ साधन चालो रे।
चन्द्रानन जिन सुनो न अरदास’

हे नाथ! हे भगवान! इस भरतक्षेत्र और इस पञ्चम काल में आपका विरह हुआ, पूर्वधारी और श्रुतकेवलियों का भी इस काल में विरह है। इस विरह में भी कर्मसम्बन्ध को दूर करने के लिए यह भावना की गयी है। यहाँ साधक, निश्चय से अपने चन्द्रानन भगवान को याद करके विनती द्वारा अपने भाव को प्रस्तुत करता है। उस समय मनसम्बन्धी राग का जो अंश है, उसमें मन्द कषाय की भी रुचि नहीं होने से लोकोत्तर पुण्य सहज ही बँध जाता है किन्तु उसकी प्रारम्भ से ही अस्वीकारता है। उस पुण्य के फल में इन्द्रपद, चक्रवर्तीपद भी सहज ही मिल जाते हैं।

भविष्य में तीर्थङ्कर भगवान के चरण-कमलों में जाकर निर्ग्रन्थ-मार्ग का आराधन करने के लिए मुनिपना अङ्गीकार कर मोक्षदशा प्रगट करने की यह भावना है। इस काल में वीतराग-सर्वज्ञ का योग नहीं है किन्तु सर्वज्ञ-शासन (वीतरागी धर्म-आत्मधर्म) का यह निर्ग्रन्थमार्ग अनादि सत्पथ है, सनातन है और सदा रहेगा — ऐसी भावना, पूर्ण शुद्धात्मा की प्रतीति, लक्ष्य और स्वानुभवसहित है। पूर्ण साध्य की प्राप्ति के लिए नग्न मुनिदशासहित निश्चयचारित्र अङ्गीकार करना चाहिए।

प्रश्न : गृहस्थवेष में केवलज्ञान और मुनिपना प्रगट होने में क्या बाधा है ?

उत्तर : यह बात असत्य है क्योंकि बाह्याभ्यन्तर निर्ग्रन्थदशा प्रगट होने पर अभ्यन्तर पुरुषार्थ से तीनों कषायों का नाश होने से बाह्य निमित्त (परिग्रह) का त्याग सहज ही होता है । गृहस्थवास में कषाय का सर्वथा त्याग नहीं हो सकता; इसलिए सच्चा मुनिपना होने के लिए नग्नत्व, अर्थात् वस्त्ररहितपना होना ही चाहिए ।

तीसरे काव्य में, दर्शनमोह दूर होने पर देहादि से भिन्न केवल चैतन्य का ज्ञान होता है - ऐसा कहा है और ज्ञानी के शुद्धात्मबोध-सहित ज्ञान की एकाग्रता द्वारा हास्य, शोक, रागादि, अस्थिरता और चारित्रमोहकर्म के उदय का अभाव होता है । ऐसा होने पर सातवाँ गुणस्थान होता है और तत्पश्चात् बारम्बार छठवाँ-सातवाँ गुणस्थान आता रहता है । ध्याता, ध्यान, ध्येय का विकल्प छूटकर ज्ञान की समाधिस्थदशा, ध्यान की स्थिरतारूप सातवीं भूमिका (मुनिपना) कैसे प्रगटे; इसकी यहाँ भावना की गयी है ।

आत्मस्थिरता, अर्थात् तन-मन-वचन के आलम्बनरहित स्वरूप की मुख्यता जिसमें हो - ऐसी स्थिरता; देह का अन्त हो, तब तक रहे - यह भावना की गयी है । जहाँ सातवाँ गुणस्थान है, वहाँ बुद्धिपूर्वक विकल्प न होने से निर्विकल्पदशा है । मुनि अवस्था में छठवें गुणस्थान में बुद्धिपूर्वक तन, मन और वचन का शुभयोग, पञ्च महाव्रत के शुभविकल्पादि रहते हैं, फिर भी मुख्यरूप से अन्तर रमणता रहे, आत्मबल के द्वारा स्वरूप में लक्ष्य रहे - ऐसी भावना बार-बार होती है ।

परिषह भयकारी हो महा - शुभाशुभविकल्परहित आत्मस्थिरता होती है । शुद्धस्वभाव में एकाग्रता इस प्रकार की हो

कि घोर परीषह आवें तो भी उनके प्रति अरति या खेद न हो। घोर परीषह आवे, फिर भी वे मेरी स्थिरता को नहीं डिगा सकते – ऐसी भावना है। छह-छह महीने तक आहार-पानी न भी मिले, तीव्र सर्दी हो तो भी उसका विकल्प नहीं आवे; भयङ्कर ताप होते हुए भी यह भय न हो कि मुझे इससे दुःख होगा। यदि बाहर से सूर्य प्रखर हो और ताप (गर्मी) भीषण हो तो मुनि को उग्र पुरुषार्थ प्रस्फुटित होकर स्थिरता शीघ्र बढ़ जाती है। उग्र साता-असाता के निमित्त भले ही आवें, किन्तु मेरी आत्मस्थिरता का अन्त न आवे; इस प्रकार अपनी निश्चलस्वरूपसमाधि की साधकदशा जयवन्त-जयशील वर्तती रहे। जिन पुरुषों ने विरुद्ध प्रसङ्गों में भी निश्चलदशा द्वारा परम आश्चर्यकारी संयम-समाधि धारण की है, वे धन्य हैं। चाहे जितने प्रतिकूल संयोग हों, किन्तु ज्ञानी उनको बाधक नहीं मानता।

उपसर्ग चार प्रकार के होते हैं – देवकृत अथवा व्यन्तरकृत, तिर्यञ्चकृत, मनुष्यकृत, और अचेतनकृत। कमठ ने पार्श्वनाथ भगवान को मुनिदशा में उपसर्ग किया और महावीर भगवान को भी मुनिदशा में उपसर्ग हुए थे किन्तु उन दोनों को क्षोभ नहीं हुआ था। ऐसे ही प्रत्येक धर्मात्मा मुनि, आत्मस्थिरता में अडोल रहते हैं। घाणी में पेले जाने पर भी उन्हें स्वरूप की स्थिरता को छोड़ने का विकल्प नहीं आता। 'मैंने बहुत सहन किया' – ऐसा विकल्प भी नहीं आता और जो कदाचित् ऐसा समझे कि 'मैंने बहुत सहन किया' तो उसको सम्यग्ज्ञान ही नहीं है।

सामान्य लोग अध्ययन, श्रवण, मनन नहीं करते और निवृत्ति लेकर ऐसी अपूर्वभावना भी नहीं करते। श्रीमद् यहाँ स्वरूप की

स्थिरता का चिन्तन करते हैं; इस रूप में वे अपने भाव व्यक्त करते हैं। उनके एक-एक शब्द में अपूर्वता है, माङ्गलिक में ही अपूर्वता है। वे अपूर्व साधकदशा (मुनिपर्याय) प्रगट होने की भावना भाते हैं। ●●

मोक्ष के अत्यन्त समीप हैं मुनिराज

देखो, चौथे और पाँचवे गुणस्थान में अभी कर्मचेतना और कर्मफल चेतना होती है, स्वामीपने नहीं, परन्तु वेदनरूप से होती है। मुनि के कर्मचेतना और कर्मफलचेतना नहीं, उन्हें ज्ञानचेतना है। पुण्य-पाप के भाव को करना, वह कर्मचेतना और हर्ष-शोक को वेदना, वह कर्मफलचेतना है, वह मुनि को नहीं है। इनसे भिन्न निज ज्ञानानन्दस्वरूप के परिणमनरूप ज्ञानचेतना का अनुभव उन्हें होता है। राग का करना और राग का वेदना मुनि को छूट गया है, उन्हें तो अकेले आनन्द का वेदन है। अहा! ऐसे चारित्रवन्त मुनि, मोक्ष के अत्यन्त समीप बर्तते हैं।

(- प्रवचनरत्नाकर, भाग 10, पृष्ठ 63)

काव्य - 5

संयमना हेतुशी योगप्रवर्तना,
स्वरूपलक्षे जिन-आज्ञा आधीन जो;
ते पण क्षण-क्षण घटती जाती स्थितियां,
अंते थाए निजस्वरूपमां लीन जो ।
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ॥



संयम ही के लिए योग की वृत्ति हो,
निज आश्रय से, जिन आज्ञा अनुसार जब ।
वह प्रवृत्ति भी क्षण-क्षण घटती जाएगी,
होऊँ अन्त में निजस्वरूप में लीन जब ॥
अपूर्व..... ॥

काव्य - 5 पर प्रवचन

संयम ही के लिए योग की वृत्ति हो - यह भावना है। इसका अर्थ यह है कि शुभाशुभभाव के अभाव के लिये मुनि-अवस्था में स्वरूप का स्थिरतारूप उपयोग होता है किन्तु जब वे उस स्वरूप में निर्विकल्परूप से स्थिर नहीं रह सकें, तब शुभोपयोग (छठे गुणस्थान) में आते हैं। तब शास्त्रश्रवण, शिष्य को उपदेश, देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति, आहार-विहारादि के शुभभाव होते हैं, वे भी संयम के हेतुरूप में ही प्रवर्तित होते हैं, अर्थात् उसमें शरीर आदि परद्रव्यों की जो क्रिया होती है, उसमें अपना कर्तृत्व नहीं मानते और शुभभाव को हेय मानते हैं। 'मैं ज्ञाता-दृष्टा, असङ्ग हूँ' - ऐसी दृष्टि से वर्तने का पुरुषार्थ उस समय भी बना रहता है; इसलिए वह शुभोपयोगरूप प्रवृत्ति, वीतराग भगवान की आज्ञानुसार है - ऐसा कहा है।

मैं पूर्ण अवस्थारूप नहीं हुआ, इसलिए जिन भगवान की आज्ञा का आराधन करने में मेरी प्रवृत्ति होती है क्योंकि वीतराग - चारित्रदशा में निर्दोषतया प्रवर्तन करने का मेरा भाव है और यह भगवती पूज्य दिव्य जिनदीक्षा का बहुमान है। 'णमो लोए सव्व साहूणम्', अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप आत्मा में एकत्वरूप से रमण करनेवाले साधु वन्दनीय हैं। अनन्त ज्ञानी भगवन्तों द्वारा प्ररूपित लोकोत्तरमार्ग (मोक्षमार्ग) में प्रवृत्ति करनेवाले का बहुमान करने का भाव साधक को आये बिना नहीं रहता है।

साधक, सातवीं भूमिका (गुणस्थान) में आराध्य-आराधक तथा 'मैं मुनि हूँ' आदि विकल्प तथा व्रतादि के शुभपरिणामों का

विकल्प छूटकर, स्वसंवेदन में स्थिर हो जाता है; वहाँ वन्द्य-वन्दक भाव नहीं होता। सर्वज्ञ भगवान कहते हैं कि छठवें गुणस्थान में मुनित्व के आचार-नियम तथा षट् आवश्यक आदि क्रिया का शुभविकल्प अकषायत्व के लक्ष्य से रहता है।

देखो तो सही! कितनी भावना! भावना करते हुए वीतराग ज्ञानी के प्रति कितनी अनन्य भक्ति रहती है और साधक कहता है कि हे नाथ! मैं जिनेन्द्र भगवान के धर्म की श्रद्धा करता हूँ, उसकी रुचि करता हूँ, उसे अन्तर में जानता हूँ, अनुभवता हूँ और उसकी आराधना करता हूँ। यहाँ जिनाज्ञा के विचारों द्वारा मेरा साधकस्वभाव कैसे बढ़े? - यह भावना है। पूर्ण यथाख्यातचारित्र ही एक उपादेय है। शुभाशुभयोग की प्रवृत्ति मेरा स्वभाव नहीं है, शुभाशुभभाव से हित नहीं होता - ऐसा भान होते हुए भी शुभभाव हुए बिना नहीं रहता। नीचे की भूमिका (गुणस्थान) में पुरुषार्थ में वर्तते हुए निमित्तरूप शुभभाव साथ रहता है।

निज आश्रय से जिन-आज्ञा अनुसार जब - यहाँ गुण प्रगट करने की बात है। जितने अंशों में जिनाज्ञा, विचार आदि का मानसिक आलम्बन छूटता है, उतने अंशों में स्वरूप की स्थिरता सहज ही बढ़ती जाती है और तदनुरूप आज्ञा आदि के आलम्बन का विकल्प भी छूटता जाता है।

वह प्रवृत्ति भी क्षण-क्षण घटती जाएगी - इसका अर्थ यह है कि जैसे ज्ञान में अन्तरङ्ग स्थिरता बढ़ती जाती है, तदनुसार निमित्त के विकल्प छूटते जाते हैं। भगवान क्या कहते हैं? - इत्यादि आज्ञा का आलम्बन सातवें गुणस्थान में सहज ही छूट

जाता है। क्षण-क्षण में मन के विकल्पात्मक परिणामों का घटना और अन्तरङ्ग में स्थिरता / स्वरूपरमणता का बढ़ना होता है। देखो तो सही! श्रीमद् राजचन्द्र ने गृहस्थाश्रम में शैय्या पर बैठकर कैसी उत्तमभावना भायी है!! इस जाति का सैद्धान्तिक कथन तो कोई लाओ!

होऊँ अन्त में निजस्वरूप में लीन जब - 'प्रभु क्या कहते हैं' - ऐसे विकल्प का आलम्बन भी छूट जाए और मात्र ज्ञानस्वरूप समाधि में स्थिरता रहे - ऐसा अपूर्व अवसर कब आवेगा, यह भावना यहाँ भायी गयी है। ऐसे आत्मस्वरूप की स्वकालदशा, निर्ग्रन्थ वीतरागताधारक मुनिपद इस देह में प्राप्त हो - ऐसा अपूर्व अवसर (शुद्धपर्याय की निर्मलता, स्थिरता) कब आयेगी?

चैतन्य की शक्ति में से ही यह भावना करनी चाहिए। अपने शुद्धस्वरूप की भावना करनेवाले काल-क्षेत्र की प्रतीक्षा नहीं करते; वे अपने शुद्धस्वरूप की योग्यता देखते हैं।

'पूर्णता के लक्ष्य से प्रारम्भ' - इस प्रकार यहाँ पूर्ण पर दृष्टि है। जिसे जिसका मतलब होता है, वह उसका वायदा नहीं करता। जिसमें उत्कृष्ट रुचि हो, उसमें क्षणमात्र का विलम्ब नहीं सहा जाता। आत्मा का स्वभाव आनन्दस्वरूप है, इसलिए उसकी भावना में आनन्द की लहर-हिलोर आना चाहिए, उस आनन्द में अकेला आत्मा ही चिन्तन में आता है।

आत्मस्थिरता और उसका पुरुषार्थ अपने स्वयं के अधीन है किन्तु मन-वचन और काय का योग स्थिर रहे या चलायमान हो, यह उदयाधीन है। उन योगों के प्रवर्तन के सर्वथा घटनेरूप

अयोगीपना तो चौदहवें गुणस्थान में होता है। सातवें गुणस्थान में अप्रमत्तदशा में 'मैं ज्ञाता-दृष्टा हूँ' आदि सब विकल्प छूटकर आत्मस्वरूप में स्थिरता रहती है; उसमें बूद्धिपूर्वक किसी प्रकार के विकल्प का प्रवेश नहीं है। उसमें होनेवाले अति सूक्ष्म विकल्प, केवलज्ञानगम्य हैं; साधक को तो उन विकल्पों का लक्ष्य नहीं है।

'अपूर्व-अवसर' काव्य में 12 वें छन्द तक सातवें गुणस्थान पर्यन्त की भावना समझनी चाहिए। 'अवसर' का अर्थ है - उन-उन भावों की स्थिरता की अवस्था, एकाग्रता। यहाँ मुख्यरूप से मुनिपने की निर्ग्रन्थदशा को अवसर गिना है। ●●

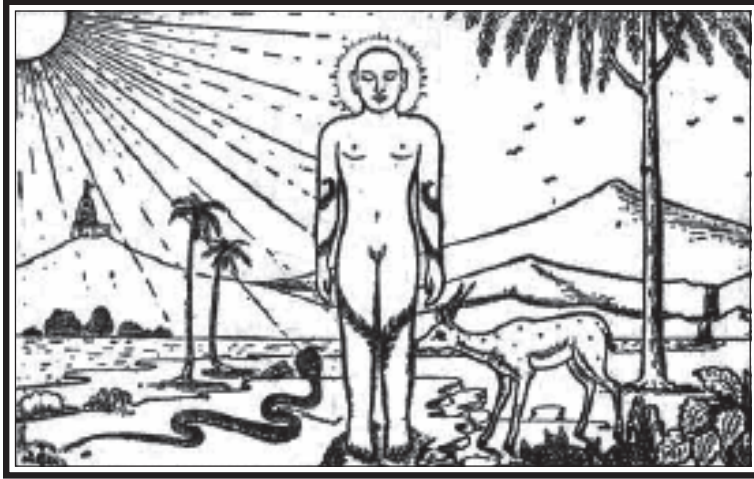
मुनिराजों को सैकड़ों बार नमस्कार

मुनिराज तो संवर और निर्जरा के मूर्तिमान स्वरूप हैं। मुनि-विरोध का अर्थ है - संवर और निर्जरातज्व की अस्वीकृति। जो सात तज्वों को भी न माने, वह कैसा जैन? हमें तो मुनिराजों के स्मरणमात्र से रोमाञ्च हो आता है। 'णमो लोए सव्व साहूणं' के रूप में हम तो सभी त्रिकालवर्ती मुनिराजों को प्रतिदिन सैकड़ों बार नमस्कार करते हैं।

(- चैतन्य चमत्कार, पृष्ठ 36)

काव्य - 6

पञ्च विषयमां राग-द्वेष विरहिता,
पञ्च प्रमादे न मले मननो क्षोभ जो;
द्रव्य क्षेत्र ने काल भाव प्रतिबन्धवण,
विरवुं उदयाधीन पण वीतलोभ जो।
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ॥



पञ्च विषय में राग-द्वेष कुछ हो नहीं,
अरु प्रमाद से होय न मन को क्षोभ जब।
द्रव्य-क्षेत्र अरु काल-भाव प्रतिबन्ध बिन,
वीतलोभ को विचरूँ उदयाधीन जब ॥
अपूर्व..... ॥

काव्य - 6 पर प्रवचन

यह भावना धन्य है! इस अपूर्व साधकस्वभाव की निर्ग्रन्थदशा धन्य है!!

एक दिन यह भावना पढ़ी जा रही थी, तब एक मताग्रही बोला - 'श्रीमद् ऐसी भावना भाते हुए भी साधु क्यों नहीं बने?'

अरे रे! कैसी अधम मनोदशा...! पञ्चम काल की बलिहारी है!! निन्दा करनेवाले को इतना भी ज्ञान नहीं है कि यह तो भावना है। सम्यग्दर्शन होने के साथ ही मुनिपना आवे - यह नियम नहीं है। मुनिपना किसी हठ से नहीं होता। यह तो लोकोत्तर परमार्थमार्ग है, अपूर्व साधकदशा की भावना है। जितना पुरुषार्थ हो, उतना ही कार्य सहज होता है।

कोई मानते हैं कि 'बाह्य त्याग किया, इसलिए हम साधु हैं', किन्तु यह कोई नाटक या अभिनय करना नहीं है; यह तो अपूर्व वीतरागचारित्र की बात है। राग-द्वेष-कषाय की तीन चौकड़ियों के अभाव होने पर मुनिपना प्रगट होता है और तब सहज ही बाह्य निमित्त वस्त्रादि छूट जाते हैं- यह नियम है; हठ से कुछ भी नहीं होता।

भावना करे और तुरन्त ही फल दिखाई दे - ऐसा कोई नियम नहीं है किन्तु भावना करनेवाले को पूर्ण विश्वास है कि अब संसार में मेरे ज्यादा भव नहीं हैं। ऐसे पवित्र धर्मात्मा के द्वारा की गयी भावना का विरोध करनेवाले जीव उस समय भी थे। 'उसकी प्रशंसा करनी हो तो हमारे स्थानक में मत आओ' - ऐसा कहनेवाले भी थे। उस समय की अपेक्षा वर्तमान काल अच्छा है

कि जिससे कई स्थानों पर उनकी (श्रीमद् की) महिमा के गीत गाये जाते हैं ।

अरे ! ज्ञान और ज्ञानी की विराधना करनेवाले जीवों को सच्चे हित की बात अच्छी नहीं लगती । जैसे, सन्निपात के रोगी को मीठा दूध हानि करता है, वैसे ही संसार में विपरीत मान्यतावाले परम हित का उपदेश सुनते हुए भी सत् का अनादर करते हैं । वे अपने को महान समझते हैं और दूसरों को तुच्छ । विषय-कषाय क्या है, उन्हें कैसे टालें ? - ये सब-कुछ वे नहीं समझते हैं । उन्हें जिनाज्ञा का ज्ञान नहीं है और घर छोड़कर वेषधारी होकर त्यागी बनने का अभिमान करते हैं । वीतरागी की आज्ञा के नाम पर अनन्त ज्ञानियों की और अपनी भी अवज्ञा करते हैं । अवज्ञा कैसे होती है ? - यह उनके ज्ञान में नहीं है, उन्हें कौन समझावे ? - ऐसे व्यवहारमूढ़ जीव बहुत देखे हैं ।

श्रीमद् ने आत्मसिद्धि में कहा है :-

**जाना स्वरूप न वृत्ति का, किया व्रत अभिमान ।
ग्रहे नहि परमार्थ को, लेने लौकिक मान ॥**

सम्यग्दर्शन क्या है ? इसका उन जीवों को ज्ञान नहीं है और मात्र शुभभाव (मन्दकषाय) को धर्म मानते हैं, संवर मानते हैं, निर्जरा मानते हैं । दया, दान के शुभराग को आस्रव न मानते हुए उस राग से संसार का टूटना, कम होना मानते हैं किन्तु वास्तव में शुभपरिणाम, पुण्य है; धर्म नहीं है ।

‘हम व्रतधारी हैं, त्यागी हैं’ - ऐसे अभिमान हो, वहाँ तो मन्दकषाय भी नहीं है; तब संवर, निर्जरा कैसे होंगे ? नहीं हो

सकते। जिसने ज्ञानी को पहचाना है, उसे मध्यस्थता एवं आदरसहित ज्ञानी का समागम करना चाहिए। उसकी बात पर मध्यस्थतापूर्वक विचार करके मतार्थ, स्वच्छन्दता आदि दोषों को दूर कर अतीन्द्रिय आत्मधर्म का निर्णय करना चाहिए।

पञ्च विषय में राग-द्वेष कुछ हो नहीं - पाँच इन्द्रियों के विषय - निन्दा-प्रशंसा के शब्द; सुन्दर-असुन्दर रूप; खट्टा-मीठा रस; सुगन्ध-दुर्गन्धरूप गन्ध; कोमल-कर्कश आदि स्पर्श - इन सबमें राग-द्वेष नहीं होना चाहिए और विशेषतः उनकी उपेक्षा वर्तना चाहिए। जैसे, हाथी के मोटे चमड़े पर कङ्करी का स्पर्श होते हुए भी उसका उस पर कोई लक्ष्य नहीं होता, उसी प्रकार स्वरूपस्थिरता के रमण में बाह्य लक्ष्य नहीं होता। ज्ञातास्वरूप के पूर्ण ध्येय के आगे विषय-कषाय की वृत्ति (विकल्प) भी नहीं होती। चाहे जैसे अनुकूल-प्रतिकूल पुद्गलरचना के विकृत गन्ध, रस, रूप के ढेर के ढेर पड़े हुए हों, किन्तु उनकी तरफ उनका लक्ष्य भी नहीं होता।

अरु प्रमाद से होय न मन को क्षोभ जब - पाँच प्रमाद नहीं हो जाएँ, अर्थात् स्वरूप में असावधानी न हो। प्रमाद पाँच प्रकार के हैं - विकथा, कषाय, विषय, निद्रा, और स्नेह। जो अपने स्वरूप के महत्त्व से परिचित है, उसे परवस्तु के क्षणिक संयोग की ममता कैसे हो? जैसे, चक्रवर्ती के चौंसठ सेरवाले अति मूल्यवान कर्ई हार होते हैं। उसे कोई भील, चिरमी का हार भेंट कर जाए तो उसे (चिरमी के हार के) प्रति ममता नहीं होती; वैसे ही ज्ञानी धर्मात्मा को विषय-कषाय से क्षोभ नहीं होता। ज्ञानस्वरूप की स्थिरता के

समय किसी भी प्रकार के संयोग-वियोग में क्षोभ अथवा अस्थिरता नहीं हो; इसलिए स्वसन्मुख ज्ञातापने में ही सावधान रहूँ।

विकथा - आत्मा की धर्मकथा भूलकर, परकथा करे, ऐसी साधु की वृत्ति कभी नहीं होती। संसार की कुकथा का रस, विकथा है, वह ज्ञानी के नहीं होती। जिसे मोक्ष की पूर्ण पवित्रता का प्रेम है, उसे संसार के विषय-कषाय, निन्दा आदि का भाव कैसे होंगे ? अर्थात् नहीं होते।

मुनिदशा में ऐसे पाँच प्रकार के विषय तथा क्रोध, मान, माया, लोभ की तीन चौकड़ी का अभाव होता है। आत्मस्वरूप में अनुत्साह का नाम प्रमाद है। आत्मस्वरूप में उत्साह अथवा स्वरूप में सावधानी का नाम अप्रमाद है - ऐसी सर्वोत्कृष्ट साधकदशा वर्तो, ऐसी शुद्ध अवस्था की एकाग्रता शीघ्र वर्तो - ऐसी यहाँ भावना की गयी है।

द्रव्य-क्षेत्र अरु काल-भाव प्रतिबन्ध बिन -

(१) **द्रव्यप्रतिबन्ध का अभाव** : ज्ञानी को किसी पर-वस्तु बिना न चले, उसमें अटकना पड़े - ऐसा नहीं होता है। ज्ञानी, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं चाहता।

(२) **क्षेत्रप्रतिबन्ध का अभाव** : ऐसा नहीं होता कि अमुक क्षेत्र में जलवायु की अनुकूलता अच्छी है; इसलिए वहाँ ठहरूँ।

(३) **कालप्रतिबन्ध का अभाव** : शीत ऋतु में अमुक क्षेत्र मेरे अनुकूल है, गर्मी में अमुक स्थान पर जाऊँ - ऐसा काल का प्रतिबन्ध नहीं होता।

(४) **भावप्रतिबन्ध का अभाव** : किसी भी प्रकार से एकान्त पक्ष का आग्रह न हो। इस स्थान पर मुझे माननेवाले बहुत हैं अथवा इस स्थान पर अधिक मनुष्य हैं, उनकी भक्ति अच्छी है; इसलिए वहाँ रहूँ या बहुत भक्तिभाव से आग्रह करते हैं; इसलिए ठहरूँ – ऐसा भाव (इच्छा) नहीं होता।

– ऐसे चार प्रकार के प्रतिबन्धों से रहित अप्रतिबन्ध मोक्षमार्ग में अप्रतिहतभाव से कब विचरूँगा – ऐसी भावना यहाँ की गयी है।

वीतलोभ को विचरूँ उदयाधीन जब – विहार-स्थलों में लोभकषायरहित, संयमहेतु से उदयाधीन / प्रकृति के योगानुसार विचरना, अर्थात् शरीरादि की क्रिया होती है। उदयाधीन, अर्थात् पूर्व प्रकृति का जब उदय आवे तो उसे विवेकसहित जाने कि यह (कर्मोदय) मेरा कर्तव्य नहीं है और उसमें ममत्व-राग न करे। अपने ज्ञानभाव से प्रकृति के उदय को जाने और ज्ञान में ज्ञानरूप से सावधान रहे, किन्तु उसमें कोई इच्छा, विकल्प या ममत्व नहीं करे। यहाँ अपूर्व वीतरागदशा के लिए निर्ग्रन्थ मुनि, अप्रतिहत दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग में रहे, आत्मा की ऐसी अपूर्व स्थिरता को उत्कृष्ट साधकदशा कब आवेगी – ऐसी भावना भायी है।

‘सर्व सम्बन्धों का बन्धन तीक्ष्ण छेदकर’ – ज्ञान और कर्मउदय की सूक्ष्म सन्धि को प्रज्ञा द्वारा स्थिरता से छेदकर, अकषायत्व के लक्ष्य से विचरने की भावना प्रगट की है और इसलिए कहा है कि **‘विचरूँगा कब महत्पुरुष के पंथ जब’**, अर्थात् कोई जिनेश्वर महान पुरुष मिले या मुनिवर सत्पुरुषों का

संयोग मिले तो उनके पदचिह्नों का / मार्ग का अनुसरण करूँ -
ऐसा अपूर्व अवसर कब आवेगा ? बाह्य और अभ्यन्तर कर्म-
कलङ्क दूर कर आत्मस्वरूप की स्थिरता करूँ - ऐसी साधकदशा
की यह भावना है। ●●

मुनिदशा की अनादिकालीन सत्य वस्तुस्थिति

मुनिदशा होने पर सहज निर्ग्रन्थ दिगज्बरदशा हो जाती है। मुनि की दशा तीनों काल नग्न दिगज्बर ही होती है। यह कोई पक्ष अथवा बाड़ा नहीं, किन्तु अनादि सत्य वस्तुस्थिति है। कोई कहे कि 'वस्त्र होवे तो ज्या आपज्जि है ज्योंकि वस्त्र तो परवस्तु है, वह कहाँ आत्मा को रोकता है?'

इसका समाधान यह है कि वस्त्र तो परवस्तु है और वह आत्मा को नहीं रोकता, यह बात तो सत्य है परन्तु वस्त्र के ग्रहण की बुद्धि ही मुनिपने को रोकनेवाली है। मुनियों को अन्तर की रमणता करते-करते इतनी उदासीनदशा सहज हो गयी है कि उन्हें वस्त्र के ग्रहण का विकल्प ही उत्पन्न नहीं होता।

(- पञ्च कल्याणक प्रवचन, गुजराती, पृष्ठ 144)

काव्य - 7

क्रोधप्रत्ये तो वर्ते क्रोधस्वभावता,
मानप्रत्ये तो दीनपणानुं मान जो;
मायाप्रत्ये माया साक्षी भावनी,
लोभप्रत्ये नहीं लोभ समान जो ।
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ॥



क्रोधभाव के प्रति हो क्रोध स्वभावता,
मानभाव प्रति दीनभावमय मान जब ।
माया के प्रति माया साक्षीभाव की,
लोभभाव प्रति हो निर्लोभ समान जब ॥
अपूर्व..... ॥

काव्य - 7 पर प्रवचन

जिसकी रुचि हो, उसकी भावना होती है। आत्मा, स्वभावतः कषायरूप नहीं है; इसलिए चारों कषायों को छोड़ने का भाव यहाँ बताया है। आत्मा, क्रोध, मान, माया और लोभरूप नहीं है; क्रोधादि भूल करना उसका स्वभाव नहीं है; वह भूलरूप होना मानता है किन्तु स्वयं भूलरूप नहीं होता।

जैसे, क्रोध करने का भाव हो, वैसे क्रोध को रोकने के लिए उग्र पुरुषार्थरूप भाव करूँ, अर्थात् ज्ञान में स्थिर होऊँ; इस प्रकार ज्ञानस्वभाव के प्रति रुचि होने से क्रोध रुक जाता है क्योंकि अन्तरङ्ग में ज्ञानकला द्वारा ज्ञान का धैर्य प्रगट होता है। मक्खी को भी शक्कर और फिटकरी का विवेक है; इसलिए वह शक्कर पर बैठती है, फिटकरी पर नहीं। जिस प्रकार मक्खी को दोनों वस्तुओं के लक्षणों को जानकर ग्रहण-त्याग का विवेक है; उसी प्रकार जीव को भी विवेक करना चाहिए। जड़वस्तु के लक्षण से भिन्न लक्षणवाला मैं, राग-द्वेषरहित, पवित्र ज्ञान-आनन्दस्वरूप हूँ। जैसे, मक्खी फिटकरी में खटास जानकर उसे छोड़ती है; उसी प्रकार ज्ञानी, विवेक द्वारा स्व-पर का लक्षण भिन्न जानकर परभाव / शुभाशुभभाव को छोड़ता है और स्वानुभव में स्थिर रहता है। आत्मा के अनहद निराकुल आनन्दरस का रसिक मगजपच्ची में - क्लेश में क्यों फँसे ?, अर्थात् नहीं फँसेगा।

क्रोधभाव के प्रति हो क्रोध स्वभावता - मैं आत्मा हूँ, सत्-चैतन्यमय हूँ, शुभाशुभ रागादि तथा देहादि सर्वाभासरहित साक्षीस्वभाव, प्रत्यक्ष ज्ञाता हूँ; परद्रव्य मेरे बाधक नहीं है। ऐसे

साधक को कभी कुछ क्रोधादि भी हों, किन्तु उनसे ज्ञान-श्रद्धान का नाश नहीं होता। यह ऐसी उपेक्षाभाव की भावना है कि मैं उदयभाव में न अटकूँ।

जैसे, सत्ताप्रिय और पुण्यवान मनुष्य दूसरे को दबाने की कला अच्छी तरह जानता है और पुण्य की सभी सामग्री इकट्ठी होने से वह निर्बल मनुष्यों को तो खड़ा ही नहीं रहते देता; वैसे ही चैतन्यप्रभु में असीमित सामर्थ्य-ज्ञानबल है, वह पुण्य-पाप की वृत्ति को दबाकर दूर कर देता है; साधक को ऐसी स्वसत्ता का वीर्य प्रगट होता है।

‘पूर्व प्रकृति की वर्तमान स्थिति दिखाई पड़ती है, उसका मैं साक्षी ही हूँ, ज्ञाता ही हूँ; इसलिए क्रोधादि को न होने दूँ – ऐसे अकषाय शुद्धस्वरूप में सावधान रहूँ’ – ऐसी उत्कृष्ट साधकदशा कब आवेगी, ऐसी भावना यहाँ बार-बार की गयी है।

मानभाव प्रति दीनभावमय मान जब – लोकोत्तर विनय और विवेकसहित दीनता रखना, सत्स्वरूप के प्रति बहुमान है, नम्रता है। सच्चे गुरु का दासानुदास हूँ, पूर्ण स्वरूप का दास हूँ; इसमें दीनता या गरीबी नहीं है किन्तु पूर्ण केवलज्ञानस्वरूप आत्मा की विनय है। जिन व्यक्तियों में जो अनन्त गुण प्रगट हो गये हैं, उन व्यक्तियों को देखकर उन गुणों को अपने में प्रगट करने की रुचि का विनय है।

शास्त्र में कहा है कि क्रोध को उपशमभाव से जीतो; मान को नम्रता द्वारा दूर करो।

अहो! सर्वज्ञ वीतराग प्रभु! कहाँ आपकी अखण्ड पूर्ण स्वरूप

आनन्ददशा और कहाँ मेरी अल्पज्ञता ! जब तक मुझमें केवलज्ञान प्रगट न हो, तब तक मैं अल्पज्ञ हूँ। इस प्रकार अपने पूर्ण स्वरूप में स्थिर होने के लिए अत्यन्त निर्मानता, मृदुता प्रगट की गयी है। 'जिसे जिसकी रुचि होती है, वह उसका बहुमान करता है' इस विकल्प के साथ भी पूर्ण अकषायस्वरूप हूँ - ऐसा लक्ष्य में रखकर शुद्धि की वृद्धि के लिए यह पुरुषार्थ है, ऐसी यह लोकोत्तर विनय है।

अरे ! यहाँ चार ज्ञानधारी श्रीगणधरदेव भी सर्वज्ञप्रभु के पास अपनी पामरता प्रगट करते हैं। संसार में विपरीत दृष्टिवाले दूसरों के द्वारा लाभ-हानि मानते हैं, पुण्यादि की पराधीनता में सुख मानकर अभिमान करते हैं कि हम शरीर से सुन्दर हैं, आदर-सम्मान एवं द्रव्य से बड़े हैं। वे इन उपाधिभावों को अपनाकर अनित्य जड़पदार्थ से अपने को बलवान समझते हैं किन्तु पुण्यादि जड़ की उपाधि से अपने को बलवान समझना महा-अज्ञानसहित विपरीतदृष्टि है।

धर्मात्मा यह मानता है कि उसमें अनन्त गुण हैं, अनन्त सुख है किन्तु अभी पूर्ण पवित्रदशा प्रगट नहीं हुई; इसलिए वह निर्दोष देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति करता है। अपने अनन्त गुणों का बहुमान करते हुए वह विनय से नत होता है। जो पूर्णता का साधक है, उसे पूर्ण पवित्रस्वरूप की आराधना करने में अल्प दोष भी रखने की बुद्धि नहीं होती। विनयी धर्मात्मा, अत्यन्त कोमल-सरल परिणाम रखता है। वह निर्दोषस्वभाव में जागृतिवाली भावना भाता है कि मुझमें गर्व का एक अंश भी नहीं रहे - ऐसी निर्मानता-वीतरागदशा मुझे कब होगी ?

साधक के अन्तर में पूर्ण शुद्ध परमात्मस्वरूप की प्रतीति रहती है; इसलिए वह जानता है कि वह अभी वर्तमान दशा में अस्थिरतारूप कमजोरी को लिए हुए पामर हूँ, अर्थात् मैं पूर्ण स्वरूप का दासानुदास हूँ। ऐसा विवेक होने से वह वीतरागी सत्पुरुष का बहुमान करता है, वह उसे परमार्थ से अपने स्वरूप की भक्ति है। मेरा पूर्ण स्वभाव अभी प्रगट नहीं हुआ; इसलिए अभिमान क्यों करूँ? – ऐसा जानता हुआ, वह स्वरूप की मर्यादा में रहता है।

जीव की सिद्ध परमात्मा-दशा पूर्ण स्वरूप से निर्मल होने से उसके बाद कोई अन्य मर्यादा लांघने को शेष नहीं रहती है। जीव का सिद्धस्वभाव अपने आप में परिपूर्ण है किन्तु साधकदशा में अभी सिद्धों से अनन्तवें भाग भी गुण की शुद्धता प्रगट नहीं हुई है तो उसमें वह अभिमान कैसे करे? मुमुक्षु-साधक आत्मा, अति सरल, हित-अहितभाव को समझने में विचक्षण और विनयवान होता है। उसमें पात्रता और लोकोत्तर विनय की महत्ता है। प्रभु का भक्त, प्रभु जैसा ही होता है। 'मैं परमात्मा का दासानुदास हूँ, चरणरज हूँ' – ऐसी निर्मानता साधक के होती है। वह अपने गुणों पर लक्ष्य कर स्वभाव की शुद्धता बढ़ानेवाला होने से पुण्यादि, देहादि की गुरुता स्वीकार नहीं करता है।

साधक अभूतपूर्व पवित्र निर्मानदशा (मध्यस्थदशा-वीतराग-दशा) की भावना करता है। पहले अनन्त काल में शुभराग में लौकिक सत्य, सरलता, निर्मानत्व आदि भाव किये हैं लेकिन उनका कुछ भी महत्त्व नहीं है; किन्तु आत्मा के यथार्थ भानसहित अकषायत्व के लक्ष्य से कषायादि राग-द्वेष की अस्थिरता का

सर्वथा क्षय करूँ - ऐसे अपूर्व अवसर की ही महत्ता है। जीव ने अज्ञानभाव में तो बहुत किया है - बाह्य में त्यागी होकर ध्यान में बैठा हो, तब उसके शरीर को जला दिया जाये अथवा चमड़ा उतारकर नमक डाल दिया जाये तो भी मन में जरा-सा भी क्रोध नहीं करे - ऐसी क्षमा, अज्ञानभाव में अनेक बार की, किन्तु अन्तरङ्ग में मनसम्बन्धी शुभपरिणाम का पक्ष (बन्धभाव) बना रहा, तब भी ज्ञानभावयुक्त निर्जरा नहीं हुई।

आत्मा के भान बिना जो सरलता, विनय, निर्मानत्व, शास्त्रों का पठन आदि हैं, वे सब मन की धारणारूप परभाव हैं। जीव उस बन्धभाव (उदयभाव) को अपना मानकर शुभ-अशुभ में रुचिरूप से परभाव में लीन रहा है किन्तु आत्मा को पर से निराला, निरावलम्बी कैसे रखा जाए? - इसकी ज्ञानकला जब तक जीव नहीं जानता, तब तक उसका सारा श्रम व्यर्थ में ही जाता है क्योंकि वह अज्ञान तो करे और उसका अपराध से छुटकारा हो, बचाव हो- ऐसा नहीं होता।

माया के प्रति माया साक्षीभाव की - कपटभाव की तुच्छवृत्ति के समक्ष अखण्ड ज्ञायक साक्षीभाव की जागृतिरूप निर्दोष विचक्षणता विकसित हो तो गुण द्वारा दोष दूर हों।

कोई कहता है कि संसार में 'शठे साठ्यं समाचरेत्' क्योंकि वैसा किये बिना काम नहीं चलता। स्त्री-पुत्रादिक सब अनुशासन में रहें; इसलिए हमें तो घर व दुनियादारी के लिए कषाय करनी ही पड़ती है। उससे ज्ञानी कहते हैं कि तुम्हारी यह मान्यता विपरीत है, भ्रम है। पाप करूँगा, क्रोध-कपट करूँगा तो सब ठीक रहेगा,

अर्थात् दोष से लाभ हो - यह कैसे बने ? जो ऐसे विपरीत सिद्धान्त को मान्य करते हैं, वे क्रोध-कपट को नहीं छोड़ सकते, क्योंकि शठ के प्रति शठता करना स्वयं अपराध है। शठ के प्रति भी सरलता-सज्जनता होनी चाहिए।

प्रयोजनवश किसी को सूचना देने का विकल्प आ जाए, यह अलग बात है किन्तु कषाय करने योग्य है - ऐसी मान्यता तो विपरीत ही है। थोड़ा-बहुत क्रोध, मान, माया, लोभ करूँ तो सब ठीक बना रहे - ऐसा जो मानता है, उसका अर्थ यह हुआ कि अवगुण करूँ, दोष-दम्भ करूँ तो ही अच्छा रहे, किन्तु यह सब विपरीत मान्यता है। दोष करनेयोग्य मानने में दोष रखने की बुद्धि हुई तो उससे गुण कैसे प्रगट होंगे ? इसलिए आत्मा का हित करना हो तो यह निर्णय करना चाहिए कि मेरा स्वभाव असीम समता-क्षमारूप है।

संसार, देहादि परद्रव्य की व्यवस्था में कोई किसी के अधिकार में नहीं है; प्रत्येक वस्तु के कार्य स्वतन्त्र हैं। कोई वस्तु दूसरे के आधीन नहीं है। किसी के राग-द्वेष करने से वह वस्तु अनुकूल नहीं होती; पूर्व का पुण्य हो तो अनुकूल दिखती है किन्तु कोई वस्तु या कोई आत्मा, किसी के आधीन नहीं है।

कोई कहे कि व्यापक प्रेम करने से जगत् वश में होता है; इसलिए सम्पूर्ण विश्व से प्रेम करना - प्रेम का विस्तार करना चाहिए। इसका यह अर्थ होता है कि अधिक राग करूँ तो सब मेरे अनुकूल हो जाएँ, तब मुझे शान्ति की प्राप्ति हो, किन्तु ऐसा होता नहीं, क्योंकि सब स्वतन्त्र हैं; इसलिए परद्रव्य से धर्म और शान्ति

माननेवाले पर के आश्रित अपना समाधान करना चाहते हैं; अतः उनके सभी सिद्धान्त झूठे हैं।

निर्दोष मोक्षमार्ग में तो परसंयोग की अपेक्षारहित, राग-द्वेष-विषय-कषायरहित, त्रिकाली ज्ञायक हूँ; पर से भिन्न पूर्ण पवित्र ज्ञानमय हूँ; रागादिरूप नहीं हूँ, शरीरादि की क्रिया नहीं कर सकता, पुण्यादि परवस्तु की सहायता की दीनता या अपेक्षावाला नहीं हूँ; अकेला पूर्ण ज्ञान-आनन्दस्वभावी हूँ - ऐसी स्वलक्ष्य की स्थिरतारूप पवित्रदशा प्रगट करने का पुरुषार्थ अपने से ही होता है; उसमें परवस्तु की आवश्यकता हो - ऐसी पराधीनता नहीं है क्योंकि प्रत्येक आत्मा का ज्ञानस्वभाव सदैव ही स्वतन्त्र है।

पूर्ण स्थिरता में न रहे सके, तब निर्दोष देव-गुरु-शास्त्र तथा वीतरागधर्म के प्रति विनय-भक्तिरूप झुकाव रहता है। वहाँ भी वीतरागता की रुचि की लगन है। उसमें थोड़ा भी राग-द्वेष आदरणीय नहीं है तो फिर पर का करूँ या न करूँ - ऐसी बात कैसे हो? क्योंकि कोई आत्मा, पर का कुछ नहीं कर सकता; इसलिए जिन्हें अपने हितरूप सम्यक्मार्ग अपनाना है, स्वाधीन ज्ञातापन में स्थित रहकर, अपना सच्चा हित करना है, उन्हें अपने निर्दोष ज्ञानस्वभाव द्वारा समझना चाहिए कि मिथ्या-अभिप्राय आदि दोष से गुण प्रगट नहीं होता; इसलिए त्रिकाली वस्तुस्वरूप को सर्वज्ञ-वीतरागकथित नय-प्रमाण द्वारा समझना चाहिए।

आत्मा, सदैव ज्ञान-आनन्दस्वरूप निर्दोष साक्षी है। मैं ज्ञाता हूँ, पूर्ण हूँ, शुद्ध हूँ - ऐसी श्रद्धा, उस स्वाधीन पूर्ण स्वरूप का ज्ञान और उसका ही आचरण होने पर थोड़ा-सा भी क्रोध, मान, माया,

लोभ आदरणीय नहीं होते। वर्तमान पुरुषार्थ की कमजोरी से अल्प कषाय की अस्थिरता हो - यह अलग बात है किन्तु हम गृहस्थी हैं; इसलिए हमें थोड़ा राग-द्वेष भी करना चाहिए तो ही सब ठीक रहे - यह अभिप्राय मिथ्या है क्योंकि पूर्व पुण्य के बिना बाह्य की अनुकूलता नहीं मिलती। वास्तव में बाह्य की अनुकूलता है — ऐसा कहना कल्पनामात्र है। मैं, घर, संसार, देहादि को ऐसे ही ठीक रख सकता हूँ, सबको वश में रख सकता हूँ, पर मुझे सहायक हैं, मैं दूसरे की सहायता कर सकता हूँ - यह मान्यता अज्ञान है, मिथ्यादर्शन नामक शल्य है।

प्राचीन काल में किसी महान् राज्य का स्वामी एक परदेशी नाम का राजा था किन्तु एक समय ऐसा हुआ कि उसकी रानी ने ही उसे ज़हर दे दिया। ऐसा जानकर भी उसने अपनी स्त्री पर क्रोध नहीं किया और जाना कि इस शरीर का अन्त इसी प्रकार से होना था। मैं किसी परवस्तु का स्वामी नहीं हूँ, स्त्री ने मेरे शरीर से लाभ न होता हुआ माना, इससे उसने द्वेषरूप यह कार्य किया; मैं अपना ज्ञानरूप कार्य करूँ। ज़हर खिलाया - यह भी जान लिया। मैं तो असंयोगी ज्ञाता ही हूँ - ऐसा विचार करते-करते राजा ने अपने बेहद पवित्र ज्ञातास्वभाव की महिमा में स्थिर होकर महापवित्र समाधिदशा में - ज्ञानभाव में देह का परित्याग किया, किन्तु अपनी राज्यसत्ता का उपयोग नहीं किया। यह उसकी भूल नहीं थी किन्तु ज्ञानी की विचक्षणा थी, विवेक था।

कोई कहे कि मैं परवस्तु में विवेक से काम कर सकता हूँ किन्तु वस्तुतः किसी का किसी द्वारा कुछ भी नहीं हो सकता है। जीव, ज्ञान में स्व को भूलकर मात्र राग-द्वेष व कर्ता-भोक्ता का

भाव कर सकता है। प्रत्येक आत्मा अपने अनन्त गुणों युक्त, अनन्त सामर्थ्ययुक्त है। तीन काल और तीन लोक में कोई भी पर की क्रिया करने को समर्थ नहीं है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी कार्य नहीं कर सकता। निमित्तरूप से कर्ता हूँ – ऐसा मानना भी अज्ञान है क्योंकि पर को दबाने का कषायभाव करे तो भी पर से लाभ-हानि नहीं हो सकते; अतः अपने त्रैकालिकस्वभाव के लक्ष्य में ज्ञानस्वभाव की जागृति और शान्तिरूप रहे तो निर्मलता प्रगट होती है।

कोई वस्तु पराधीन नहीं है; प्रत्येक पदार्थ सर्वथा स्वतन्त्र है, भिन्न-भिन्न है। अनादि और अनन्तरूप से अपने आप में परिपूर्ण है। मात्र स्वभाव का लक्ष्य करके अनादिकालीन विपरीत अभिप्राय / खोटी मान्यता दूर करने की प्रथम आवश्यकता है।

सच्चा ज्ञानी अन्तरङ्ग से समाधान करता है और अज्ञानी पर में इष्ट-अनिष्ट कल्पना करता है। कुटुम्ब में किसी की भूल हो जाए तो विवेक से समाधान करना चाहिए। पति में भूल हो तो स्त्री उपेक्षा करती है, सहन करती है; कभी स्त्री भूल करे तो उसका पति जरा भी सहन न करे – वह न्याय नहीं है। लौकिकनीति-व्यवहार में सज्जनता का दावा करनेवाला, अपने मान्य सिद्धान्तों के लिए बहुत कुछ सहन करता है और इस नीति के लिए अन्य सबकी उपेक्षा करता है; इसी प्रकार आत्मधर्म में व्यवहारिक सज्जनता होनी ही चाहिए। अखिल संसार की स्थिति क्या है? – यह जो विवेक से तथा समझपूर्वक धैर्य से जानता है, वह अन्य को दोष-दुःख देने का भाव नहीं करता।

प्रश्न : आपकी बात सच्ची है किन्तु क्या घर-संसार में रहकर ऐसा होना सम्भव है ?

उत्तर : परसंयोग किसी का लाभ या नुकसान नहीं करा सकते, अज्ञान से मानो भले ही। जिसे ऐसा अभिमान है कि यदि हम क्रोधादि कषाय न करें तो काम नहीं चले; मान, इज्जत, अनुकूलता नहीं मिले, लोक में निर्बल कहलाएँ, किन्तु उसके ऐसे अभिप्रायानुसार पर में कुछ भी नहीं होता; इसलिए ऐसी मान्यता मिथ्या है।

1. जिन्होंने तीव्र क्रोध, मान, माया, लोभ में चैतन्यवीर्य को संलग्न कर दिया है; पर को दबाया और अनीतिपूर्ण अभद्र आचरण किये हैं, वे भयङ्कर नरकगति में नपुंसक हुए हैं तथा नपुंसक जीव को स्त्री-पुरुष दोनों के प्रति काम-भोग की अनन्त तीव्र आकुलता होती है।

2. जो क्रोध, मान, लोभ में थोड़े लगे, किन्तु जिन्होंने कपट अधिक किया, वे तिर्यञ्च-पशु हुए।

3. जो मन्दकषाय के मध्यमभाव में रहे, वे मनुष्य हुए।

4. जो शुभभाव में बड़े, वे देव हुए।

5. जिन्होंने स्वरूप की स्थिरता द्वारा कषाय में अपना उपयोग सर्वथा नहीं लगाया, वे वीतरागी सिद्धपरमात्मा हुए।

‘इस प्रकार सब जीव सिद्धसमान हैं’ – ऐसा जो समझता है, वह सिद्ध होता है। सिद्धपरमात्मा के समान पूर्ण पवित्र शक्ति प्रत्येक आत्मा में निहित है; जो इसे समझे, वह वैसा हो सकता है किन्तु असीम ज्ञान को, समतास्वरूप की पवित्र शान्ति को भूलकर क्रोध, मान, माया, लोभरूप विषय-वासना में लीन होना, परवस्तु

में इष्टबुद्धि करना महापाप है; स्वाधीनस्वरूप की अनन्ती हिंसा है। क्रोधादि तुच्छभावों को धारण करने में अपनी हीनता नपुंसकता है; अतः सर्व प्रथम आत्मा के यथार्थस्वरूप को जानकर पर में इष्ट-अनिष्ट कल्पना व पर में कर्तृत्व-भोक्तृत्व मानने का अभिप्राय बदलकर ऐसा निर्णय करें कि मेरे नित्य ज्ञानस्वभाव में जरा भी क्रोध, मान, माया, लोभ नहीं है, क्लेश नहीं है; इसलिए ये करने योग्य नहीं हैं।

हित-अहितरूप परिणाम तो अपना ही भाव होने से, उन्हें पहचानकर अपने वश में रख सकता है किन्तु पर का कुछ भी नहीं कर सकता - ऐसे विवेकस्वभाव से निश्चित होने पर यह निश्चित हुआ कि क्रोधादि दोष द्वारा स्त्री-पुत्र आदि ठीक रहें और वश में रहें - ऐसा मानना झूठा ही है; इसलिए त्रिकालीस्वरूप में विवेकी दृष्टि रखकर अवगुण (दोष) करने का लक्ष्य स्वप्न में भी नहीं करना चाहिए। जरा भी क्रोधादि कषाय मेरे नित्य तत्त्व में नहीं हैं, इसलिए इन्हें न होने दूँ, स्वसन्मुख ज्ञाता ही रहूँ - ऐसी भावना निरन्तर रखनी चाहिए, अर्थात् स्वसन्मुख ज्ञातापना और उसमें धीरज रखने का विशेष पुरुषार्थ करना, वह अपने अधिकार में है।

जैसे, ज्ञानस्वभाव की जागृति छिपाकर दूसरे से कपटभाव किया करता था, वैसी प्रवृत्ति छोड़कर मैं अखण्ड ज्ञानस्वभाव की जागृति इस प्रकार रखूँ कि किसी प्रकार का कपट अंश आवे तो उससे भिन्न ही रहूँ, निर्दोष साक्षीभाव को ज्ञानदृष्टि द्वारा जान लूँ। स्वभाव की जागृति में अंशमात्र भी कपट नहीं आने दूँ, पवित्र सरलस्वभाव की दृष्टि और महिमा द्वारा माया (कुटिल) भाव को जीत लूँ - ऐसी मेरी भावना है।

लोभभाव प्रति हो निर्लोभ समान जब - जैसे, लोभ में 'लोभ करने योग्य है' - ऐसा ममत्वभाव था, अब मैं इस लोभ के प्रति अंशमात्र भी लोभ नहीं रखूँ; किन्तु निर्लोभतारूप अकषायी सन्तोषभाव से आत्मा में स्थिर रहूँ, परम शान्तिमय मेरे आत्मा में तृप्त रहूँ। मैं अनन्त ज्ञान-शान्तिस्वभावी हूँ। ज्ञानस्वभाव में स्थिरता द्वारा निर्मलता प्रगट होने से त्रिकाल और त्रिलोक का ज्ञान प्राप्त होता है, उस पूर्ण आनन्दस्वभाव को भूलकर परसंयोग में सुखबुद्धि मानकर विपरीत हुआ, इससे तीन काल और तीन लोक के परिग्रह की तृष्णा बढ़ती जाती है किन्तु उस तृष्णा का पेट कभी भरा हो - ऐसा नहीं होता।

अज्ञानभाव में अनन्ती तृष्णा द्वारा जैसे लोभ करने में असीमता थी, वैसे ही मैं ज्ञानस्वभाव में दृढ़ होने से बेहद सन्तोषपूर्वक पूर्ण शुद्धता के ज्ञान द्वारा अनन्त ज्ञान एवं सन्तोष रख सकता हूँ। संसार की वासना को दूर कर मैं पुण्य-पापरहित पूर्ण शुद्ध पवित्रता में ठहरूँ और नित्यस्वभाव का सन्तोष प्राप्त करूँ - ऐसी यह भावना है।

पूर्ण पवित्र सिद्धपद अपने में शक्तिरूप में है, उसकी प्राप्ति के लोभ का विकल्प छठवें गुणस्थान तक होता है किन्तु दृष्टि में पूर्ण का आदर होने से शुभविकल्प का भी नकार है और भविष्य में 'प्रभु की आज्ञा से उसी स्वरूप में लीन होऊँगा' - इसका वर्तमान में सन्तोष है, अर्थात् संसार के पुण्यादि परमाणुओं की इच्छा नहीं है किन्तु मोक्ष की इच्छा का विकल्प छूटकर, स्वरूप की स्थिरता की अपूर्व प्राप्ति कब होगी ? - ऐसी यहाँ भावना की गयी है। ●●

काव्य - 8

बहु उपसर्गकर्ता प्रत्ये पण क्रोध नहीं,
वन्दे चक्री तथापि न मले मान जो;
देह जाय पण माया थाय न रोममां,
लोभ नहीं छो प्रबल सिद्धि निदान जो ।
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ॥



बहु उपसर्ग कर्ता के प्रति भी क्रोध नहीं,
वन्दे चक्री तो भी मान न होय जब ।
देह जाय पर माया नहीं हो रोम में,
लोभ नहीं हो प्रबल सिद्धि निदान जब ॥
अपूर्व..... ॥

काव्य - 8 पर प्रवचन

‘अपूर्व-अवसर’ की भावना में ऐसी रुचि का चिन्तन है कि उत्कृष्ट साधकदशा प्रगट हो और शुभाशुभभावों का क्षय करूँ कि जिससे पुनः बन्धन न हो। अखण्ड-अबन्ध, अपूर्वदशा के द्वारा विकल्प का अभाव करूँ, अर्थात् अपनी शुद्धदशारूप बाण को उग्र करके, पुरुषार्थ द्वारा कर्मोदय की सूक्ष्म सन्धि के जुड़ानभाव को नष्ट कर दूँ - ऐसी उत्कृष्ट साधकदशा कब आवेगी - यह भावना यहाँ की गयी है। अत्यधिक उपसर्ग करनेवाले के प्रति भी लेशमात्र क्रोध न हो - ऐसी यह भावना है। क्रोधादि कषाय करने का अभिप्राय नहीं है किन्तु स्वरूपस्थिरता की दृढ़ता का, उग्रता का पुरुषार्थ करूँ - ऐसी यहाँ भावना है।

स्वयं निरपराधी होते हुए भी किसी देव, मनुष्य, तिर्यञ्च अथवा अचेतन प्रकृतिकृत घोर उपसर्गजनित असाता का उदय हो तो भी उसके प्रति लेशमात्र भी क्रोध नहीं करूँ, क्योंकि पहले असातावेदनीयादि अनेक कर्म बाँधे हैं, वे अपनी स्थिति अनुसार फल देकर निर्जरा को प्राप्त होते हैं, वे अस्थायी हैं; उनसे ज्ञानगुण को कोई हानि नहीं होती।

कोई यह माने कि मैंने बहुत सहन किया तो उसकी यह मान्यता मिथ्या है क्योंकि ज्ञान का स्वभाव असीमरूप से जानना है। जिसे केवलज्ञान प्रकट हो, वहाँ सब अनन्त सहज ही जाना जाता है। उस दशा के बिना ‘मैंने बहुत जान लिया, सहन किया’ - ऐसा मानना भूल है।

कोई कहे कि कोई मुझे गाली दे, मेरी निन्दा करे तो कितनी

बार सहन करूँ? सहन करने की कोई सीमा तो होनी चाहिए? किन्तु ऐसा नहीं है। सहन करना, अर्थात् समझ का कार्य तो जाननेरूप रहना है। अनन्त प्रतिकूलता के संयोग दिखाई पड़ते हुए भी ज्ञान रुकने के स्वभाववाला नहीं है; जानने में दोष या दुःख नहीं है। जो जैसा है, वैसा जानना तो गुण है; उसमें अनन्त समता है। आत्मा सदैव ही अपरिमित ज्ञानसमता का समुद्र है। परवस्तु को जानता हूँ - ऐसा कहना व्यवहारमात्र है; वास्तव में स्वयं अपने ज्ञान की स्वच्छता को अपने में जानता है, देखता है। परवस्तु किसी को बिगाड़नेवाली या सुधारनेवाली नहीं है।

आत्मा, स्वाधीन ज्ञानस्वरूप है। वह रागादि या देहादि परवस्तुरूप तीन काल में भी नहीं है। एक द्रव्य में परद्रव्य का कारण-कार्यभाव, पराधीनता या पर का सहायकत्व तीन लोक और तीन काल में नहीं है। घास के एक तिनके के दो टुकड़े करने की ताकत किसी आत्मा में नहीं है, फिर भी कोई ऐसा माने कि आत्मा में ऐसी ताकत है तो उसकी मान्यता मिथ्या है; उसे स्वतन्त्र ज्ञानस्वभावी आत्मा का तथा पुद्गल की स्वतन्त्रता का भान नहीं है।

जिसकी दृष्टि निमित्त पर है, उसने राग को करने योग्य माना है। मुझे पर से लाभ-हानि है - ऐसा जो मानता है, उसने अनन्त पर के साथ अनन्त राग-द्वेष को करने योग्य माना है। उसकी विपरीत मान्यता में, तीनों काल राग-द्वेष करने योग्य है - ऐसा आया, किन्तु ज्ञान में स्वलक्ष्य से ज्ञान का समाधान करने योग्य है - ऐसा उसने स्वीकार नहीं किया। जिन्होंने सर्वज्ञ-वीतराग के न्याय से यथार्थ ज्ञानस्वभाव को जानकर अनादि-अनन्त एकरूप,

पर से भिन्नरूप जाननेवाला मैं हूँ - ऐसे बेहद अपरिमित ज्ञान व समतास्वरूप की प्रतीति की, उनको ज्ञानस्वभाव का धैर्य किसी प्रकार नहीं छूट सकता। इसलिए गृहस्थदशा में भी अखण्ड ज्ञानस्वभाव की प्रतीति में बेहद समता, सहज ही आती है।

ज्ञान तो गुण है। गुण से दोष की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। जिन्होंने ज्ञान को अपना स्वरूप स्वीकार किया, उन्होंने उसको पर से प्रतिरुद्ध होना नहीं माना। ज्ञान में जो जैसा है, उसे वैसा जान लेना तो गुण है। ज्ञान का कार्य तो जाननामात्र है किन्तु राग का कार्य परवस्तु में इष्ट-अनिष्ट कल्पना करना है। ज्ञान तो प्रत्येक आत्मा का स्वतन्त्र अखण्डस्वभाव है, वह किसी भी काल में जानने में समाप्त हो या अटक जाए - ऐसा नहीं है।

जिन्हें परवस्तु में तीव्र स्नेह है, उन्हें तृष्णा और मोहरहित ज्ञानस्वभावी आत्मा की पहचान नहीं है। अमुक मोह दूर किये बिना, धर्म के समीप आना नहीं होता। खर्च करने से पैसा नष्ट नहीं होता, यह लौकिकन्याय का सिद्धान्त है। मध्यस्थभाव से यथार्थरूप से प्राकृतिक नियम समझना चाहिए कि दान देने से धन नष्ट नहीं होता, किन्तु पुण्य नष्ट होने से धन नष्ट होता है।

निर्लोभी अकषायी पवित्र आत्मस्वरूप की पहचान होने के पश्चात् शुद्धात्मा का लक्ष्य निरावलम्बी ज्ञानभाव ही रहता है; अतः सर्व प्रथम संसार के प्रति अशुभराग छूट जाने के पश्चात् सच्चे धर्म की प्रभावना के लिए लोभकषाय का त्याग होता है। सच्चे धर्म की साधना करनेवाले मुनिगण स्थिर रहें, साथ ही मेरा वीतरागभाव बढ़ जाए - ऐसी भावनावाले गृहस्थ के अशुभ से

बचने के लिए दानादि क्रिया हुए बिना नहीं रहती। यहाँ पर की क्रिया के साथ सम्बन्ध नहीं है किन्तु गुण की रुचि में, राग सर्वथा दूर नहीं हुआ; इसलिए जो राग रहा, उसकी दिशा वह गृहस्थ बदलता है किन्तु शुभराग को धर्म में सहायक नहीं मानता। मैं पर से सर्वथा भिन्न निवृत्तिस्वरूप ज्ञानस्वरूप हूँ – ऐसी स्वाधीन तत्त्व की रुचि, राग का नाश करनेवाली हैं; इसलिए ब्रह्मचर्य, सत्य आदि सद्गुणों की रुचि हुए बिना नहीं रहती।

स्वरूप की सच्ची पहिचान होते ही तुरन्त त्यागी हो जाए – ऐसा नियम नहीं है। जिसे स्वरूप की सच्ची पहिचान हो जाए, उसके व्यवहार-नीति और पारमार्थिक सत्य प्रगट हुए बिना नहीं रहता। जहाँ पारमार्थिक सत्य है, वहाँ व्यवहार में सत्य वचनादि होते ही हैं। जिसने सत्य का भान किया है, उसे असत्-खोटी समझ का अंश भी नहीं रहता – यह अटल नियम है।

रुचि का अनुयायी वीर्य (पुरुषार्थ-बल) है। जिसमें जिसका प्रेम होता है, वह उस इष्ट की प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करता ही है। जिसमें जिसकी रुचि होती है, उसकी प्राप्ति के लिए वह मर-पचकर भी प्रयत्न करता है – ऐसा नियम है। यदि कोई पराधीनता का दुःख देखे, तो 'मैं दोष-दुःखरहित अकेला हूँ' – ऐसा विचार करके अन्य सबकी उपेक्षा कर छूटने का उपाय अवश्य करे। जैसे, कीड़ा या लट, पत्थर के नीचे दबा हुआ भी जीने के लोभ से, शरीर पर बहुत वजन होने पर भी भले ही देह के टुकड़े हो जायें – ऐसा अन्तरङ्ग में जोर देकर बाहर निकलता है; इसी प्रकार मकोड़ा जब किसी से चिपट जाता है तो भले ही आधा

शरीर टूट जाए किन्तु छोड़ता नहीं; उसी प्रकार प्रत्येक जीव अपने सङ्कल्पित कार्य को करता हुआ दिखता है; अतः यह सिद्ध हुआ कि समझ के अनुसार, रुचि के अनुसार पुरुषार्थ होता है।

जिसे जिस प्रकार का श्रद्धान दृढ़ हो जाए व इष्ट मान ले, वह उसकी प्राप्ति के लिए पूर्ण पुरुषार्थ करता ही है, उसके लिए वह अपने शरीर की भी परवाह नहीं करता। (परवस्तु को कोई प्राप्त नहीं कर सकता, कल्पना से प्राप्त की - ऐसा भले ही मान ले।) लौकिक कहावत है कि देह का नाश हो तो हो जाए, किन्तु इष्ट प्रयोजन की प्राप्ति करके ही रहेंगे।

उसी प्रकार जिन्होंने अनन्त काल की पराधीनता, राग-द्वेष-अज्ञानभाव से छूटने का उपाय अपने ज्ञानस्वभाव द्वारा जान लिया; उन्हें उसकी रुचि क्यों नहीं होगी? मैं सदैव अपने ज्ञानादि अनन्त गुणों से परिपूर्ण हूँ, शुद्ध हूँ; रागादि पुण्य-पाप, शुभाशुभ, पर-उपाधि और देहादि मेरे में नहीं हैं; मैं सदा पर से भिन्न ही हूँ - ऐसा जिसने जान लिया है, वह यथार्थस्वरूप की निःशङ्क श्रद्धा में ज्ञानबल द्वारा, स्वाधीनस्वरूप की एकाग्रता से, पूर्ण सिद्धपद प्राप्त करने के लिए स्वरूपरस में लीन हो तो कैसे डिगोगा?, अर्थात् नहीं डिग सकता। भले ही शरीर छूट जाए, किन्तु इस पूर्ण स्वभाव की शुद्धता की सन्धि और शुक्लध्यान की श्रेणी न छूटे - ऐसा यह अपूर्व अवसर (अब-निश्चय, सर-श्रेयोमार्ग) मेरे लिए कब आयेगा - ऐसी भावना यहाँ की गयी है।

‘मैं, पर से भिन्न, त्रिकाली ज्ञानस्वभावरूप हूँ; किसी के द्वारा रुकनेवाला नहीं, पररूप नहीं, रागादिरूप नहीं, दूसरे की तरफ

झुकाव का अशुद्धभाव तो एक समय की अवस्था जितना ही है। मैं नित्य टड्ढोत्कीर्ण ज्ञायक एकरूप हूँ; किसी निमित्त की अपेक्षावाला नहीं हूँ - ऐसा समझनेवाला प्रत्येक आत्मा पूर्ण स्वतन्त्र भगवान है। सर्वज्ञ भगवान के शासन में सम्पूर्ण जगत् का न्याय निहित है। तटस्थतापूर्वक स्वतन्त्रस्वभाव से विचार करने पर सर्वज्ञ के उक्त न्याय के अनुसार सारा ज्ञान, आत्मा में है।

बहु उपसर्ग-कर्ता के प्रति भी क्रोध नहीं - 'बहु' शब्द उपसर्ग की असीमता सूचित करता है। ज्ञानी का उपसर्ग के समक्ष भी 'बहु क्षमास्वभाव' जागृत है। क्षमा, अर्थात् स्वभाव से परिपूर्ण ज्ञानदृष्टि में किसी के दोष दिखाई नहीं पड़ते, क्योंकि कोई वस्तु दोषरूप नहीं है। भले ही घोर प्रतिकूलता का प्रसङ्ग ज्ञान की स्वच्छता में जाना जाए, किन्तु उससे ज्ञानी को बाधा नहीं होती। अशुभकर्म के संयोग में ज्ञानी जानता है कि विपरीत पुरुषार्थ द्वारा विकारीपर्याय पहले अपनायी थी; उसी भूल का फल यह अशुभकर्म का संयोग वर्तमान में दिखायी दे रहा है किन्तु अब मैं त्रिकाली अखण्ड ज्ञानस्वभाव का स्वामी होने से भूलरूप परिणमन नहीं करता, अपितु निर्दोष ज्ञाताभावरूप होने से भूलरहित स्वभाव के भान में स्थिर होकर भूतकालीन अवस्था और निमित्त का मात्र ज्ञान करता हूँ।

ज्ञानी, जिन संयोगों को देखता है, उनमें हर्ष-शोक नहीं करता। निर्दोष ज्ञानस्वभाव का लक्ष्य रखकर भी ज्ञानी के अल्प राग-द्वेष होते हैं किन्तु उसकी मुख्यता नहीं है। मैं, त्रिकाली ज्ञानस्वभावी हूँ, इसकी मुख्यता है। ऐसा विचारकर निःशङ्कस्वभाव में सच्चा

अभिप्राय लाओ कि मैं राग-द्वेष-मोहरूप नहीं हूँ क्योंकि वे मेरे स्वभाव नहीं हैं; इसलिए कषाय, अंशमात्र भी करने योग्य नहीं है। राग-द्वेष न होने दूँ, अर्थात् जागृत ज्ञानस्वभाव की अपरिमितता में स्थिर रहूँ - ऐसा अभिप्राय जागृत रखना ही ज्ञान की क्रिया है।

अभी अल्प राग का अंश होता है, यह अलग बात है किन्तु हमें राग-द्वेष करने पड़ते हैं - ऐसा मानने में तो बहुत अहित है। मैं दूसरों को समझा दूँ, मेरे द्वारा दूसरे समझते हैं, मेरी सलाह से सब भली प्रकार से रहते हैं; इस प्रकार पर की व्यवस्था का कर्तृत्व एवं ममत्व रखूँ - ऐसी मान्यता महापाप है। पर का कुछ भी कार्य कर सकूँ - यह विपरीत अभिप्राय है और इस अभिप्राय में अनन्त आसक्ति है; इसलिए सर्व प्रथम इस अभिप्राय को बदलना चाहिए।

मैं सदा ही पर से भिन्न ज्ञानानन्दस्वरूपी हूँ। मैं ज्ञान के अतिरिक्त कुछ भी नहीं कर सकता। मैं पराश्रय से होनेवाले भाव को नित्य-स्वभाव की भावना द्वारा दूर करनेवाला हूँ। 'पर' मुझे सहायक नहीं हो सकता। मेरा कर्तव्य तो यह है कि रागरहित, परावलम्बनरहित ज्ञान करूँ। मैं पूर्ण पवित्र ज्ञानमात्र हूँ - ऐसे अभिप्राय को मैं निरन्तर बनाये रखूँ और स्वरूप का दृढ़ता बढ़े - यही हितकर है।

भले ही किसी को प्रसङ्गवश सलाह-सूचना देने का विकल्प आवे, किन्तु उसमें किसी प्रकार का आग्रह या ममत्व नहीं होना चाहिए। मेरी बात से कोई सुधरे या बिगड़े - इसका कर्तृत्व -ममत्व मैं छोड़ देता हूँ। तत्पश्चात् वह सुधरे या न सुधरे - वह उसके भावों पर निर्भर है; मैं किसी का कुछ कर नहीं देता। मैं तीनों काल में ज्ञान ही करता हूँ - ऐसा मानने से राग-द्वेष होने का

अवकाश नहीं रहता। सुधारना तो उसे स्वयं को है। त्रिकाली द्रव्यस्वभाव में कुछ बिगाड़ नहीं होता। वर्तमान एक समय की अवस्था में पराश्रय करके जीव नये राग-द्वेष करता है - यह उसकी भूल है। इस भूल को वह नित्य ज्ञानस्वभाव के लक्ष्य और स्थिरता द्वारा दूर कर सकता है; इसलिए समाधान स्वयं को ही करना है, पर से कुछ भी नहीं है। इसी में अनेक प्रश्नों का समाधान हो जाता है।

मैं दूसरे को शीघ्र समझा दूँ, मैं पर की व्यवस्था रख सकता हूँ - ऐसी सब मान्यताएँ मिथ्या हैं। जिसने आपने आपको सुधार लिया, उसके लिए सारा जगत् सुधर गया; जिसने स्वाधीनस्वरूप द्वारा निजात्मा को अविरोधरूप से जान लिया, उसको कोई विघ्न नहीं है। चाहे अनुकूल या प्रतिकूल बहुत उपसर्ग आये, उनसे ज्ञान को क्या ?

उपसर्ग चार प्रकार के हैं - देवकृत, मनुष्यकृत, पशुकृत और अचेतनकृत। उनमें किसी के प्रति भी क्रोध का विकल्प भी नहीं आवे - ऐसी भावना है।

कोई माने कि मैं अपने भाई, मित्र, पुत्र, समाज आदि का इतना उपकारी रहा हूँ, फिर भी वे मेरी निन्दा आदि द्वारा प्रतिकूलता उपस्थित करके मुझे हैरान कर देते हैं - ऐसा मानना भी मिथ्या / भ्रम है। इन सब संयोगों में पूर्व कर्म निमित्त हैं। तू उनमें अपने इष्ट-अनिष्टरूप होने की कल्पना करता है। अरे! निमित्त आत्मा में नहीं है, और वह तुझे जबरदस्ती से बिगाड़ नहीं कर सकता।

कोई भी परवस्तु दूसरे को राग, द्वेष या क्रोधादि नहीं करा

देती। आत्मा अरूपी, ज्ञानघन, ज्ञानपिण्ड है; उसमें राग-द्वेष उपाधि का अंश नहीं है। तब परवस्तु के प्रति क्षोभ किसलिए करना चाहिए? जो वस्तु पर है, वह सर्वथा भिन्न अपने स्वभाव में स्थित है। ऐसे स्वतन्त्र वस्तुस्वभाव को कोई भिन्न जान ले तो उसे ज्ञात होगा कि मेरे में न क्रोध है, न द्वेष है, न हठ है, न उपाधि है।

आत्मा, ज्ञाता है, साक्षी है; उसके अरूपी ज्ञान में प्रीति या अप्रीति आदि विकल्पों का अंश भी नहीं है। परवस्तु किसी के लिए इष्ट-अनिष्ट नहीं है। लौकिकजन, परवस्तु में इष्ट-अनिष्ट, सुख-दुःख की कल्पना कर लेते हैं और अपने को रागवाला मानते हैं परन्तु यदि आत्मा, रागादिरूप हो तो राग दूर नहीं किया जा सकता। जीव, पर के कारण से अपने को सुखी-दुःखी मानता है - यह भी वास्तविक नहीं है। यदि जीव को पर से दुःख होता हो तो जीव कभी क्षमा नहीं रख सकता, किन्तु ऐसा नहीं होता। आत्मा चाहे तो कितने भी प्रतिकूल संयोगों या प्रसङ्गों में क्षमा, समता, शान्ति रख सकता है; उसमें कोई बाधा नहीं दे सकता। निमित्त चाहे जैसा मिले, किन्तु हम उसमें से सुलटा अर्थ कर सकते हैं।

आत्मज्ञानी की भी कभी निन्दा होती है। उनकी निन्दा करनेवाले पुस्तकें लिखते हैं किन्तु उनसे ज्ञानियों की आत्मा को क्या? अरे! किसकी निन्दा करता है?

प्रत्येक अक्षर अनन्त परमाणुओं से बना हुआ है, वाणी तो परमाणुओं की अवस्था है। वे निन्दा के शब्द तो तुमको यह कहते नहीं कि तुम द्वेष करो, किन्तु अज्ञानी अपनी विपरीत मान्यता द्वारा 'यह मेरी निन्दा करता है' - ऐसा मानकर अपने भाव में द्वेष करता

है, किन्तु ज्ञानी को राग-द्वेष करने का भाव ही नहीं होता तो फिर अन्य कौन राग-द्वेष करा सकता है? ज्ञानी, परवस्तु द्वारा राग-द्वेष-मोह होना नहीं मानता। अपनी निर्बलता से उन्हें अल्प राग-द्वेष होता है किन्तु यह बात गौण है।

ज्ञानी जानता है कि निन्दात्मक शब्दों के जड़ रजकण पुस्तकरूप होनेवाले हों तो उनको कोई भी शक्ति नहीं रोक सकती। ऐसा जाननेवाले को चाहे कितने ही परीषह आओ, वे क्षमा ही रखते हैं। 'ज्ञाता रहूँ' - यह मेरा सहजस्वरूप है। समतारूप की स्थिरता बढ़ाने की उत्तम कसौटी का यह समय है। सामनेवाले जीव मुझे दुःख देने में निमित्त होते हैं - ऐसा विचारकर वह उनसे द्वेष नहीं होता, किन्तु उनकी अज्ञानदशा देखकर करुणा आती है। किसी के प्रति द्वेष या क्रोध नहीं होना चाहिए, इस प्रकार समताभाव रखता है।

जीव जब तक परवस्तु में कर्तृत्व-ममत्व मानता है और पर से भिन्नत्व नहीं समझता, तब तक वह उसमें कर्तापने का अभिमान और राग-द्वेष करता है तथा पर का कर्ता-भोक्ता हूँ — ऐसी कल्पना करता है। अन्य किसी को इच्छानुकूल परिणमित कराना चाहे तो परसम्बन्धी विचारा हुआ यथेच्छ कभी नहीं होता और विपरीत मान्यता से राग-द्वेष दूर नहीं होते; इसलिए सर्व प्रथम निज-पर स्वरूप को जानो; उसका अभ्यास, अध्ययन, श्रवण, मनन करो। भाई! सच्ची समझ बिना तेरी मान्यता विपरीत है।

लोग ऐसा सोचते हैं कि यह मेरा लड़का है, मेरा भाई है - यह ऐसा अहित कैसे कर सकता है? किन्तु भाई! संसार का ऐसा ही

नियम है - यह कोई नवीन बात नहीं है। अपना दुःख हटाने का सच्चा उपाय एकमात्र आत्मज्ञान है। लोक में बाह्य वस्तु को इष्ट मानकर उसे स्थिर रखने के लिए यह जीव कितना अधिक सावधान रहता है - तो फिर जिसे सच्चे हित (आत्मस्वरूप) की प्राप्ति हुई है, वह उस सच्चे हित में किसी भी प्रकार का विघ्न कैसे आने देगा? अर्थात् नहीं ही आने देगा।

यह अकषायदृष्टि द्वारा कषाय दूर करने की भावना है। चाहे जितने प्रतिकूल प्रसङ्ग उपस्थित हों, किन्तु उनके उपस्थित करनेवालों के प्रति क्रोध नहीं आता; मैं तो अपने क्षमास्वभावरूप हूँ। बाह्य निमित्तों को दूर नहीं करना है क्योंकि मेरे दूर करने से वे दूर नहीं होते, किन्तु उनके सम्बन्ध का निर्दोष ज्ञान करना है। निमित्तों को दूर करने की किसी की सामर्थ्य नहीं है किन्तु क्षमा बनाये रखना - यह अपने पुरुषार्थ के आधीन है। अज्ञानी, पर-निमित्तों को दूर करना चाहता है किन्तु उनका दूर होना जीव के आधीन नहीं है। कोई पर में पुरुषार्थ नहीं कर सकता और उससे कभी शान्ति भी नहीं मिल सकती। धर्मात्मा, निमित्त का लक्ष्य नहीं करता; स्वयं ही समताभाव, क्षमास्वभाव को धारण करता है।

विरोधी जीव को क्रोध व द्वेष करने से रोकना, इस जीव के सामर्थ्य की बात नहीं है किन्तु अपने में - सहजस्वभाव में समता रखना, यह उसकी स्वसत्ता की बात है। अरे ! घाणी में पेल दे तो भी अशरीरीभाव बनाये रखने की यह बात है, उत्कृष्ट साधकदशा की यह भावना है; इसलिए यहाँ उत्कृष्ट परीषह की बात की है। यह सहज वीतरागदशा की भावना है। निर्ग्रन्थ मुनिदशा में जब

निरन्तर आत्मसमाधि लगती है, तब बाहर क्या होता है ? – इसकी उसे सुध भी नहीं रहती । ‘कौन बोले, कौन सुने और कौन समझावे ?’ – ऐसी तटस्थ वीतरागभावना आत्मा के सच्चे स्वरूप की पहचान करने से होती है ।

परनिमित्तों को दूर करना, रखना या उनमें मेल-मिलाप करना या परिवर्तन करना, चेतन के अधिकार की बात नहीं है । उसको ऐसा निर्णय कर एक बार अपने सच्चे अभिप्राय की स्वीकारता तो देनी चाहिए । आत्मा की स्वाधीनता को स्वीकार कर मजबूती लाने से राग-द्वेष करने का उपाधिभाव (बन्धभाव) पूर्णतः उड़ जाता है । जो कार्य आत्मा के हाथ में है और करने योग्य है, उसे ही करना ज्ञानी का आशय है । अज्ञानी, बाह्य संयोगों को दूर करना चाहता है और उनसे राग-द्वेष-मोह करता है किन्तु सम्यग्ज्ञानी धर्मात्मा मानता है कि अपने आश्रित, मात्र ज्ञानपरिणमन है । वह अपने ज्ञानपरिणमन के द्वारा समतास्वभाव में परिणमता है; इसलिए वह सहज ही राग-द्वेष, विषय-कषायों को जीतता है ।

कभी घोर असाता को उदय में (जैसे, शरीर को घाणी में पेल देने के) घोर उपसर्ग आवें, तो भी ज्ञानी उस ज्ञेय का राग-द्वेष-रहित ज्ञान करता है । वह उसे जानता अवश्य है किन्तु वह जानने में अटकता नहीं; जो परमाणु अलग हो जाते हैं, वह उनका ज्ञानमात्र करता है । जिसे आत्मा की श्रद्धा है, वह उत्कृष्ट प्रतिकूल प्रसङ्गों में भी खेद नहीं करता, अन्तरङ्ग में क्षोभ नहीं करता – ऐसी उसके ज्ञान की दृढ़ता होती है । जब तक वह गृहस्थ-अवस्था में है और पुरुषार्थ में निर्बल हैं, तब तक ज्ञानी होते हुए भी उसे थोड़ी अस्थिरता

हो जाती है किन्तु अभिप्राय में यह अशरीरी वीतरागभाव का लक्ष्य रखता है और उसे प्रगट करने की भावना करता है।

पहले महान् मुनिराज हो चुके हैं, वे चाहे जितने उग्र परीषह में भी अपूर्व समता-समाधिभाव की सहजशान्ति में झूलते हुए ज्ञान की रमणता में स्थिर रहे हैं। 'देह, पेली जाती है' - ऐसे विकल्प को भी छोड़कर, उन्होंने अपने में ज्ञानघन वीतरागदशा बनाये रखी। जिसमें राग-द्वेष के विकल्पों का प्रवेश न हो - ऐसी अपूर्व साधकदशा शीघ्र आवे - ऐसी भावना रखी है।

यह धर्मात्मा, गृहस्थाश्रम में था या आत्मा में? स्वरूप की यथार्थ जागृति के भान द्वारा आत्मा की अपूर्वता का यह सन्देश है। अन्तरङ्ग में आत्मबल द्वारा स्थिरता रखने और वीतरागस्वभाव को सिद्ध कर उसीरूप होने की भावना यहाँ की गयी है। इसी भावना को करनेवाले के निःशङ्क अभिप्राय में अपने भव का अभाव दिखता है।

'गृहस्थदशा में भी दृढ़तर सम्यक्त्व हो सकता है' - इस बात का परिचय कोई करे तो समझ में आवे। लोगों का बाह्यसंयोग की सावधानी की ओर लक्ष्य रहता है कि ऐसा संयोग होना चाहिए और ऐसा नहीं, किन्तु ज्ञानी का ऐसा अभिप्राय नहीं होता; वह अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों में राग या द्वेष नहीं करता। यहाँ अशरीरी, अतीन्द्रिय ज्ञान-आनन्दमय भाव की महिमा बतायी है - 'धन्य हैं वे मुनिवर जो वर्ते समभाव।' जिसके अन्तरङ्ग में उत्कृष्ट साधकदशा की रुचि यथार्थरूप से जमी हो- उसकी ऐसी ही भावना होती है।

वन्दे चक्री तो भी मान न होय जब - छह खण्ड का अधिपति चक्रवर्ती महा-वैभवशाली होता है, उसकी हजारों देव सेवा करते हैं, वह 48 हजार पाटण, 72 हजार नगर, 96 करोड़ सैनिकों का स्वामी होता है। ऐसा राजा वर्तमान में महाविदेहक्षेत्र में विद्यमान है। वहाँ सनातन जैन निर्ग्रन्थ मुनिधर्म हमेशा रहता है। चक्रवर्ती सम्राट अपने विशाल वैभव के साथ मुनि की वन्दना करने के लिए आता है और परम विनय-वन्दनापूर्वक उनकी स्तुति करता है - 'हे मुनिराज! आप बहुत ही पवित्र अवस्था में हैं' किन्तु मुनि को इससे मान को अंश भी नहीं होता।

'जिसको जो रुचता है, वह वही करता है।' - इस न्याय के अनुसार गुण का आदर करनेवाले को गुण रुचते हैं। वह गुण की रुचि उसके अपने ही कारण से है, और यदि कभी निन्दा करनेवाले को मुनि में दोष दिखाई पड़ें तो वह दोष भी उसी के कारण हैं; इसलिए मुनि को पर के सम्बन्ध में कोई विकल्प नहीं उठता। जो चैतन्य-आनन्दमूर्ति भगवान आत्मा में, अपनी ज्ञानानन्द की सहज समता में महासुख मानकर पूर्ण स्थिरता में, एकाग्रता में स्थित है, उसे स्व-स्वरूप से बाहर निकलना कैसे रुचे? अर्थात् नहीं रुचता।

मुनि अवस्था में जो पवित्रदशा प्रत्यक्ष प्रगट होती है, उस उत्कृष्ट साधकदशा के प्रति इस गाथा में आदर व्यक्त किया गया है। वह दशा अपने में वर्तमान में नहीं है; इसलिए उसके प्रति अपनी रुचि व्यक्त की गयी है। अपने में कुछ पात्रता है और उस दशा के प्रति आदर है; इसलिए पूर्णता के लक्ष्य से यह भावना की गयी है। जिसे यथार्थस्वरूप की पहचान है - ऐसा सम्यग्दृष्टि ही ऐसी भावना कर सकता है।

लही भव्यता मोटूँ मान, कवण अभव्य त्रिभुवन अपमान
 - तीर्थङ्करदेव सर्वज्ञ भगवान की धर्मसभा में किसी जीव के लिए यह ध्वनित हो कि 'यह भव्य है' तो इसके समान जगत् में दूसरा क्या सम्मान होगा ? किसी जीव के लिए सहजवाणी में आया कि 'यह जीव अपात्र है' तो जगत् में उससे अधिक भारी अपमान और क्या समझना चाहिए ? साक्षात् सर्वज्ञ भगवान की वाणी किसी जीव विशेष को लक्ष्य कर कहे कि 'यह जीव सुपात्र है' तो अहो ! धन्य है !! जगत् में इससे अधिक भारी सम्मान और क्या है ?

जब गौतमस्वामी समवसरण (धर्मसभा) में प्रविष्ट हुए और मानस्तम्भ पारकर प्रभु (महावीरस्वामी) के सन्मुख हुए, तभी प्रभु की दिव्यध्वनि हुई कि 'अहो ! गौतम भव्य है' - ऐसी साक्षात् दिव्यध्वनि में प्रथम स्थान गौतम को ही मिला ।

महावीर तीर्थङ्कर भगवान को केवलज्ञान प्रगट होने पर भी 66 दिन तक उनकी वाणी नहीं खिरी । सर्वज्ञ भगवान तो वीतराग हैं, उनके इच्छा नहीं होती, किन्तु भाषा-रजकणों का प्राकृतिक योग ही ऐसा होता है कि लोकोत्तर पुण्यवान गणधरपदवी पानेयोग्य जीव का उपादान जब तक प्रभु के सन्मुख नहीं होता, तब तक तीर्थंकर भगवान की वाणी दूसरे को निमित्त नहीं होती ।

सौ इन्द्र, लाखों देव आदि असंख्यात प्राणी भगवान के दर्शन व वाणी सुनने के लिए आये, इन्द्र ने भी भगवान की भक्ति की, किन्तु 66 दिन तक भगवान की वाणी नहीं खिरी और गौतम के सम्मुख आते ही दिव्यध्वनि व्यक्त हुई; उस समय भी गौतम को अपने बड़प्पन का अभिमान नहीं हुआ, किन्तु वह प्रभु के सम्मुख

दीनता एवं नम्रता से विनयपूर्वक झुक गया। मुनिपद की प्रतिज्ञा कर ध्यान में लीन हो गया और तुरन्त ही सातवीं अप्रमत्त भूमिका, निर्विकल्पदशा हुई और चौथा मनःपर्ययज्ञान प्रगट हुआ और उन्हें गणधरदेव की पदवी मिली।

साक्षात् सर्वज्ञ परमात्मा के बाद गणधरदेव की पदवी है। ऐसी पदवी पाकर भी गौतम अत्यन्त निर्मानता से कहते हैं:-

‘ धन्य प्रभु! आपकी दिव्यवाणी को भी वन्दन करता हूँ; धन्य प्रभु! आपका वीतरागमार्ग! क्या पूछूँ? सब समाधान हो गया। धन्य प्रभु! आपके अपूर्व उपकारी वचन सुनते ही भव्य जीवों के सम्पूर्ण सन्देह मिट जाते हैं और वे निरभिमानभाव से आत्मा में स्थिर हो जाते हैं। उस अनन्त उपकार का वाणी द्वारा क्या वर्णन करूँ!’

गणधरदेव की ऐसी उत्कृष्ट साधकदशा है। पाँचवे ज्ञान (केवलज्ञान) को प्रगट करने का पुरुषार्थ है। ऐसी निर्मानी निर्ग्रन्थदशा का अपूर्व अवसर मुझे कब मिलेगा? ऐसी भावना यहाँ भायी गयी है।

यह निर्ग्रन्थ मार्ग ही मोक्षमार्ग प्रगट करनेवाला है; अन्य मार्ग नहीं। चक्रवर्ती राजा, मुनि का बहुत सम्मान करते हैं, हजारों का जनसमूह, अनेक राजा-महाराजा सपरिवार आकर उनका दर्शन करते हैं किन्तु मुनि को इससे अभिमान नहीं होता, क्योंकि वे जानते हैं कि आत्मा का सम्मान शब्द या विकल्प से नहीं होता; वह तो अपने भाव का फल है। कोई निन्दा या स्तुति करे तो वह नामकर्म की प्रकृति है, उससे मुझे कोई हानि-लाभ नहीं है - ऐसा माननेवाले मुनिवर धन्य हैं।

देह जाय पर माया नहिं हो रोम में - सर्वोत्कृष्ट साधक -दशावाले मुनि भी पूर्ण शुद्धता के पुरुषार्थ में वर्तते हैं। उस समय कभी देहनाश का प्रसङ्ग आवे, कभी घोर परीषह का प्रसङ्ग आवे तो भी वे देह के प्रति अंशमात्र भी ममता नहीं करते; पुरुषार्थ की स्थिरता से छूट कर राग-द्वेष में नहीं अटकते। जहाँ सरल पुरुषार्थ होता है, उसमें कुटिलता को स्थान नहीं होता। निराबाध पुरुषार्थ पूर्णता के लक्ष्य में चालू ही रहता है। उन्होंने पूर्ण केवलज्ञान के ऊपर ही सुनिश्चल दृष्टि डाली है, अर्थात् वे उसमें अपने पुरुषार्थ को लगाकर सतत, अबाध स्थिरता में लीन रहते हैं। इस बीच में यदि देहनाश का प्रसङ्ग आ जाए तो भी पुरुषार्थ की गति नहीं बदलती; मोहभाव या माया का अंश भी नहीं आता; कभी पुरुषार्थ की वक्रगति नहीं होती। 'ऐसे वीतरागभाव का पुरुषार्थ जिस काल में प्रगट करूँगा, वही स्वकाल धन्य है' - ऐसी भावना यहाँ की गयी है।

यहाँ कहने का आशय यह है कि देहनाश के समय भी मेरा अतीन्द्रिय पुरुषार्थ सतत निराबाध रहे; देह का विकल्प भी नहीं रहे। कभी घोर उपसर्ग हो तो अपूर्व समाधिमरण (पण्डितमरण) की जागृति बढ़े; देह जाते हुए मेरे रोम में भी माया न हो; किसी भी काल में स्वभावपरिणति की गति विपरीत न हो - ऐसा अपूर्ण अवसर कब आवेगा? ऐसी यह भावना है।

लोभ नहिं हो प्रबल सिद्धि निदान जब - वचनसिद्धि, अणिमा आदि लब्धि के प्रगट होने पर भी उन्हें उपयोग में लेने का विकल्प भी नहीं आता। नव कोटि-विशुद्ध ब्रह्मचर्य, निष्परिग्रहता, सत्यव्रत, अहिंसा आदि संयमभावनागुण, वीतरागता, समता बढ़ने